

रामायण प्रेमी—इंडोनेशिया

लगभग छह हजार छोटे-बड़े द्वीपों का देश है—इंडोनेशिया। आबादी १२ करोड़ है और क्षेत्रफल ५७५४५० वर्ग मील है। छोटे द्वीपों में से अधिकतर ऐसे हैं, जिनमें लोग साधारण सी नाव के सहारे आसानी से आते-जाते रहते हैं।

इस द्वीप समूह की पुरातत्व उपलब्धियों और अर्वाचीन परंपराओं को देखने से स्पष्ट है कि वहाँ भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है। वहाँ के इतिहास पर दृष्टि डालने से ही यह तथ्य सामने आता है कि किसी जमाने में यह देश भारतीय उपनिवेश रहा है। वहाँ भारतीय पहुँचे हैं, उन्होंने अपना वंश विस्तार किया है और इस भूमि को खोजा, बसाया तथा विकसित किया है। पीछे भारत से संबंध छूट जाने के कारण वहाँ पहुँचे अरबों के प्रभाव और दबाव में आकर वहाँ के निवासियों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। फिर भी संस्कृति में भारतीयता का गहरा पुट बना ही रहा, जो अब तक विद्यमान है। इसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र का कोई राजकुमार वहाँ पहुँचा और इन द्वीप समूहों में से कितने ही द्वीपों को उसने नये सिरे और नये ढंग से बसाया था। तब से भारतीयों का उस क्षेत्र में आना-जाना बना ही रहा। पीछे भगवान बुद्ध के शिष्यों ने वहाँ पहुँचकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया, किंतु इससे पहले शताब्दियों तक हिंदू धर्म का ही प्रसार-विस्तार होता रहा और उस द्वीप समूह के प्रायः सभी निवासी हिंदू धर्मावलंबी बने रहे।

इंडोनेशिया के अनेक नगरों के नाम अभी भी भारतीय नगरों के समान हैं, जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला, गान्धार, विष्णुलोक, लवपुरी नगर प्रथम आदि।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २०४

इंडोनेशिया में भारतीय संस्कृति की स्थापना और उसके विकास-विस्तार का महत्वपूर्ण विवरण श्री केम्पर के “अली इंडोनेशिया आर्ट”, डॉ० कुमार स्वामी के ‘हिस्ट्री ऑफ इंडिया एण्ड एण्डोनेशिया यूनिटी’ स्टुट्टरहिम के “रामा लीजेप्डेन एण्ड रामा रिलफिस इन इण्डोनेशियेन” ग्रन्थों में प्रामाणिक सामग्री सहित प्रस्तुत किया गया है। इन्हें पढ़ने पर यह स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं रह जाती कि इण्डोनेशिया द्वीप समूह में किसी समय भारतीय संस्कृति का ही बौलबाला था।

इंडोनेशिया नाम ग्रीक भाषा का है, जो ‘इण्डो’ और ‘नेसी’ शब्दों को जोड़कर बनाया गया है। इण्डो का अर्थ है—‘भारत’ और नेसी का अर्थ है ‘द्वीप’। ‘इंडोनेशिया’ अर्थात् भारत का द्वीप यहाँ चिरकाल तक भारतीय सभ्यता की जड़ जिस गहराई तक जमी रही है उसे देखते हुए यह नामकरण सर्वथा उचित ही कहा जा सकता है। इन द्वीप समूहों का इतिहास पिछले दिनों तक ‘ईस्ट इण्डीज’ कहा जाता रहा है। ईस्ट इण्डीज अर्थात् ‘पूर्वी भारत’। जिस प्रकार अब उत्तर भारत और दक्षिण भारत एक होते हुए भी उसकी भौगोलिक जानकारी के लिए उत्तर-दक्षिण का प्रयोग करते हैं, उसी तरह किसी समय विशाल भारत का पूर्वी छोर इंडोनेशिया तक फैला हुआ था। उसके मध्य में आने वाले देश तो भारत के अंग थे ही।

इस्लाम ने हिंदी, चीन और हिंदोनेशिया पर तूफानी वेग से आक्रमण किया। सन् १४०० के लगभग इस क्षेत्र के लोग मुसलमान बनने को बाध्य हो गए। इससे पूर्व उस क्षेत्र में हिंदू धर्म का ही प्रचलन शताब्दियों से चला आता था। उपासना की दृष्टि से शिव की प्रथम और विष्णु की द्वितीय मान्यता वहाँ पर थी। उपलब्ध मूर्तियों, अवशेषों तथा शिलालेखों से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि उस देश में शिव-मंदिरों की स्थापना बड़े उत्साह के साथ हुई थी। साथ ही विष्णु मंदिर भी बनाए गए थे। शिव और विष्णु की सम्मिलित मूर्तियाँ भी मिली हैं।

यों सारा कम्बोडिया इस्लामी सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ मंदिरों के खंडहरों से भरता चला गया, पर अभी भी जो बचे हैं, उनको कम महत्वपूर्ण और गौरवास्पद नहीं कहा जा सकता।

इंडोनेशिया के प्रथम शिक्षा मंत्री यासीन ने उस देश का विस्तृत इतिहास “ताता नगरा मजहित सप्त पर्व” नाम से लिखा है और उसमें रामायण को उस देश की सांस्कृतिक गरिमा के रूप में स्वीकार किया है।

महाभारत पर आधारित देवरुचि, अर्जुन-विवाह, काकविन, द्रोपदी स्वयंवर, अभिमन्यु-वध आदि कितने ही कथानक भी यहाँ की नाट्य परंपराओं में सम्मिलित हैं। ११वीं शताब्दी में महाभारत लिखा गया, जिसका नाम है—“महायुद्ध”।

जोग्या कार्ता का प्राचीन शिवालय १४० फुट ऊँचा है। इसमें १६ बड़े और २४० छोटे मंदिर सम्मिलित हैं, भूचाल से ध्वंश होने पर भी जो कुछ बचा है, वह भी अत्यधिक हृदयग्राही है। रामायण अभिनयों में ज्योग्या के सुल्तान की पुत्रियाँ सीता और त्रिजिटा का अभिनय करती थीं।

७ सितंबर १९७१ में इंडोनेशिया ने विश्व का सर्वप्रथम अंतर्राष्ट्रीय रामायण महोत्सव आयोजित किया और राष्ट्रसंघ को उसमें सहयोग देने के लिए राजी कर लिया। यह उत्सव १५ दिन चला और उसमें फिजी, सिंगापुर, मलेशिया, थाईलैंड, लाओस, कंबोडिया, वर्मा, लंका, भारत, नेपाल आदि देशों ने अपनी-अपनी प्रतिनिधि मंडलियाँ भेजकर उत्साहपूर्वक भाग लिया। रामलीला की कितनी शैलियाँ प्रचलित हैं और उनकी अपनी-अपनी कितनी विशेषताएँ हैं, इसे देखकर आगंतुक मंत्रमुग्ध रह गए। इस विश्व मेले में ३०० कलाकारों और २० हजार दर्शकों ने भाग लिया।

सन् १९६९ में ईरान को ४० कलाकारों की एक ‘संस्कृति मंडली’ भेजी गई और उसने “रामायण अभिनय” को नाट्य द्वारा

ऐसी सुंदरतापूर्वक संपन्न किया कि ईरानी जनता मंत्रमुग्ध रह गई। इस मंडली ने वापसी में दिल्ली में भी अपनी रामलीला दिखाई, जिसकी जनता ने भूरि-भूरि प्रशंसा की।

यों भारत में भी रामलीला का प्रचलन है। दशहरा के अवसर पर रावण वध, भरत-मिलाप आदि के दृश्यों सहित छोटे-बड़े समारोह उत्तर भारत में प्रायः हर नगर में होते हैं, पर इंडोनेशिया में रामलीला क्रमशः अधिकाधिक कलात्मक होती गई है और उसके साथ जुड़े हुए नृत्य अभिनय इतने ऊँचे कला-स्तर पर जा पहुँचे हैं कि उस क्षेत्र की सुरुचि को सराहे बिना नहीं रहा जा सकता। चर्म पुतलियों द्वारा संपन्न होने वाले नाटक भारत की कठपुतली कला को बहुत पीछे छोड़ देते हैं। बिहार के सेराइ केला क्षेत्र में छाऊँ नृत्य को देखकर इस क्षेत्र की नृत्य शैली को थोड़ा आभास भर मिल सकता है।

विष्णु वाहन गरुड़ इंडोनेशिया निवासियों के श्रद्धापात्र हैं। उनके नाम से “गरुड़ एयरवेज कंपनी” चलती है। विदेशों की यात्रा का सरंजाम प्रायः उसी को जुटाना पड़ता है। “गरुड़ पर सवारी कीजिए” “गरुड़ गति से प्रवास कीजिए” जैसे विज्ञापन इस वायुयान कंपनी की तरफ से बैटे-चिपकाए जाते हैं। गरुड़ नाम को प्रधानता इसीलिए इन विज्ञापनों में दी जाती है कि जनता में सहज गरुड़-श्रद्धा की चर्चा करके, यात्रा के लिए अधिक उत्साह उत्पन्न किया जाए।

पंडान कसबे की दुकानों के नाम अर्जुन, नकुल, लक्ष्मण आदि पर हैं। एक एक्सप्रेस गाड़ी का नाम है—भीम। चमड़े की बनी पुतलियाँ यहाँ की बड़ी दुकानों पर हर जगह मिलती हैं। उसी प्रकार हनुमान, रावण, जटायु आदि के मुखौटे भी जहाँ-तहाँ बिकते देखे जाते हैं।

न्यूयार्क में एक इंडोनेशियाई मुसलमान ने एक शानदार होटल खोला है। उसका नाम रखा है “रामायण होटल” धर्म से मुसलमान

होते हुए भी इंडोनेशियाईवासियों की संस्कृति में ‘रामायण’ के लिए श्रद्धा का गहरा पुट है। उनके नाम अभी भी रत्न देवी, लक्ष्मी, सीता, द्रोपदी, मेघवती तथा कार्तिकैय, सुकर्ण, सुब्रत, सुजय आदि पाए जाते हैं।

इस होटल के उद्घाटन में राष्ट्रसंघ के तत्कालीन अध्यक्ष श्री आदम मलिक सप्तलीक उपस्थित थे। श्री मलिक इससे पहले इंडोनेशिया सरकार के मंत्री रह चुके हैं।

इस्लामी विस्तारवाद भारत को रौंदता हुआ १४वीं सदी में इस क्षेत्र में भी जा पहुँचा और अपनी गहरी जड़ें जमाई। इस क्षेत्र की जनता में ९० प्रतिशत मुसलमान हैं। शेष दस प्रतिशत में हिंदू तथा अन्य धर्मानुयायी तथा अन्य धर्मावलंबी शामिल हैं। पुर्तगाल, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेजों की घुसपैठ भी पंद्रहवीं सदी के आरंभ में हो गई थी, जो पिछली शताब्दी तक चलती रही।

इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्ण ने एक समय पंडित जवाहरलाल नेहरू को एक पत्र में लिखा था—“इंडोनेशिया और भारत की जनता रक्त और संस्कृति के पवित्र एवं सुदृढ़ धारों से परस्पर मजबूती के साथ बँधी है।”

स्वतंत्रता प्राप्त करने का बाद इंडोनेशिया और भारत के संबंध बहुत ही अच्छे थे। पीछे चीनियों ने उन्हें विषाक्त बना दिया। क्रमशः अब उनमें सुधार हो रहा है और आशा की जाती है कि धर्म की भिन्नता रहने पर भी इंडोनेशिया और भारत की सांस्कृतिक एकता दोनों को पुनः घनिष्ठता के संबंध सूत्र में बाँधे बिना न रहेगी।



हिंद-चीन क्षेत्र को भारत के अनुदान

भारतीय पुराण-साहित्य में सात पातालों की चर्चा मिलती है। प्राच्य विद्या विशारदों ने इसकी संगति दक्षिण-पूर्व एशिया के सात देशों से मिलाई है, जहाँ समुद्र पार करके जाना पड़ता है। इन शोधकर्ताओं के अनुसार—(१) अतल-सुमात्रा (२) चितल बोर्निया (३) सुतल जावा (४) रसातल-सेलीविज (५) महातल-आस्ट्रेलिया (६) तलातल-न्यूगिनी (७) पाताल- न्यूजीलैंड है। कहीं-कहीं नौ द्वीपों की भी चर्चा मिलती है। बर्मा और मलय को शामिल कर लेने से यह संख्या ९ हो जाती है। सिंगापुर का सिंहलद्वीप के नाम से वर्णन हुआ है। वर्मा को नाग द्वीप कहते हैं। सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मिनी की सुंदरता और उसे पाने की चेष्टा में अनेकों राजकुमारों की दौड़धूप की किंवदंतियाँ अभी भी बहुचर्चित लोक-कथाओं में सम्मिलित हैं।

'कौडिन्य' का नाम सुदूर पूर्व के शासकों का एक प्रतीक ही बन गया है। भारत से उगने वाले अधिक प्रतापी राजाओं को उस क्षेत्र में कौडिन्य नाम से संबोधित किया जाने लगा। इतिहास बतलाता है कि समय-समय पर कई कौडिन्यों ने उस क्षेत्र की शासन सत्ता के सूत्र अपने हाथ में सँभाले हैं। प्रथम कौडिन्य ईसा की प्रथम शताब्दी में पहुँचा था। चौथी शताब्दी में दूसरे कौडिन्य का विवरण उपलब्ध होता है, जिसने वहाँ पूर्व परंपराओं का प्रचलन रद्द करके नये स्तर पर भारतीय आचार पद्धति की स्थापना की। इसके तीन सौ वर्ष बाद एक तीसरा कौडिन्य भारत से पहुँचा। उसने शासन-व्यवस्था को और भी अधिक परिष्कृत किया। पाँचवीं सदी के शासक जय वर्मा को भी 'कौडिन्य' शब्द के साथ संबोधित किया जाता है।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २०९

तानकिन, अनाम, कोचीन-चाइना, लाओस, कंबोडिया-यह चाइना प्रायद्वीप के प्रधान प्रदेश हैं। इस प्रायद्वीप की आबादी प्रायः ४ करोड़ है। भारतमाता और हिंदचीन की धरती को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आधार पर बड़ी और छोटी बहिन कहा जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी।

अब हिंदचीन का नाम प्रयोग पुराना पड़ गया है। उसके स्थान पर नया नाम प्रचलित हुआ है-'वियतनाम'। कम्युनिस्ट और गैर कम्युनिस्टों के संघर्ष ने इन दिनों इस देश में गृहयुद्ध की स्थिति उत्पन्न कर दी है और उत्तरी-दक्षिणी बनाकर भारत-पाकिस्तान के जैसा विभक्त करके रख दिया है। उत्तरी साम्यवादियों को रूस-चीन का समर्थन प्राप्त है और दक्षिणी गैर साम्यवादियों को अमेरिका का।

पहली ईसवीं में भारतीयों का शासन कंबोडिया, दक्षिण लाओस, स्याम, मलाया द्वीप समूह में स्थिर हो चुका था। इस क्षेत्र में कौडिन्य ब्राह्मण ने पदार्पण किया। उसने स्थानीय नाग कन्या सोमा से विवाह किया और उसके वंशजों का नाम सोमवंशी हुआ। इन लोगों ने इस सुविस्तृत क्षेत्र की शासन-व्यवस्था संभाली। दक्षिण भारत के उस क्षेत्र में भारतीय लोग बराबर जाते और बसते रहे। भारत के पल्लववंशी राजा अपने नाम के आगे वर्मा उपाधि लिखा करते थे। अस्तु, वही परंपरा सुदूर पूर्व के शासकों में भी चली। उस क्षेत्र के प्राचीन राजाओं में से अधिकांश वर्मा उपाधि अपने नाम के साथ लगाते रहे थे। भारत के गोपुरों की शैली पर कंबोडिया के “अंकोरवाट” और “वेयन” मंदिरों की निर्माण हुआ। उस क्षेत्र में नटराज की मूर्तियों का बाहुल्य यह बताता है कि दक्षिणी भारत के शैवों का वहाँ किसी समय वर्चस्व रहा है।

सुदूर पूर्व में भारत का प्रभाव-विस्तार किस क्रम और किस आधार पर विकसित हुआ इसकी अच्छी जानकारी इन पुस्तकों से भी मिलती है—(१) बी० सी० छावरा कृत—“एक्सपेंशन ऑफ इण्डोचाइना कल्चर” (२) “ए हिस्ट्री ऑफ साउथ ईस्ट एशिया” (३) वेल्स कृत—“दी मेकिंग ऑफ इण्डिया” (४) कें० ए० एन० शास्त्री कृत—“इण्डियन इन्फ्लुएंस इन फार ईस्ट” (५) जिंपर कृत—“दी आर्ट

ऑफ इण्डियन एशिया” (६) स्टुट्टरहम कृत—“इण्डियन इन्फलुएंस इन ओल्ड बालीनीज आर्ट” (७) मजूमदार कृत—“हिंदू कोलोनीज इन फर ईस्ट” (८) बैजनाथ पुरी का—“दक्षिण पूर्व एशिया का सांस्कृतिक इतिहास” (९) घोषाल की “प्रोग्रेस ऑफ ग्रेटर इण्डियन रिसर्च” आदि ग्रंथ उपयोगी जानकारी प्रस्तुत करते हैं।

पामतियों की “खामेर वास्तुकला का इतिहास” तथा वोवासलिये की खमेर मूर्तियाँ और उनका विकास पुस्तकें भी स्वर्ण द्वीप की भूतकालीन सभ्यता, संस्कृति पर अच्छा प्रभाव डालती हैं और बताती हैं कि उस क्षेत्र पर भारत का कितना अधिक प्रभाव रहा रघुनाथ सिंह की “दक्षिण-पूर्व एशिया” और मजूमदार की “स्वर्णद्वीप” पुस्तकें भी इस संदर्भ में अच्छी जानकारी प्रस्तुत करती हैं।

हिंद-चीन क्षेत्र पर प्रकाश डालने वाले फिनों के तीन निबंध बहुत ही सारणीकृत हैं—(१) हिंद-चीन में भारतीय संस्कृति का प्रादुर्भाव (२) हिंद-चीन में लोकेश्वर एशियाटिक अध्ययन (३) हिंद-चीन में बौद्ध मत। ‘सुदूर पूर्व पत्रिका’ भाग १२ और सन् १९२६ की “भारतीय इतिहास पत्रिका” में इस प्रकार के और भी कई विवरण उपलब्ध हैं।

बाकोफर का “फूनान पर भारतीय कला का प्रभाव” निबंध “बृहत्तर भारत” पत्रिका के भाग दो में छपा है। उसी के भाग १० में विश्वनाथ का “हिंद-चीन के सामाजिक जीवन में द्रविण प्रभाव” लेख छपा है। मद्रास की “प्राच्य सभा पत्रिका” के भाग-२ में “फूनान और कंबुज में भारतीय संस्कृति” पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार ‘मार्डन रिव्यू’ (१९३०) में श्रीचटर्जी का “कंबुज में तंत्र वाद” लेख के अंतर्गत पठनीय तथ्य प्रस्तुत किए गए थे।

तुर्की टोपी पहने हुए सैगोन के बाजार में इधर-उधर आने-जाने वालों में से बहुत से मुसलमान “मलाबारी” कहलाते हैं। इनके पूर्वज भारत के मालाबार प्रदेश से वहाँ पहुँचे थे। बाद में स्लाम धर्म स्वीकार कर लेने पर भी उन्होंने अपने पूर्वजों की मातृभूमि को विस्मृत नहीं किया और “मलाबारी” कहलाने पर उपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २११

यहाँ रिक्षे अधिक हैं, जिन्हें प्रान्सीसी भाषा के शब्द 'पुश-पुश' से जाना जाता है। तांगे कम हैं, उनको 'मलबार' कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि किसी समय मलाबारी यहाँ अधिक संपन्न रहे होंगे। इसी आधार पर उस वाहन का नाम 'मलाबारी' पड़ गया। इसका निर्माण और प्रचलन भी आरंभ में इन्हीं लोगों ने किया होगा।

सैगोन में तागिल चेटिट्यर संख्या में तो बहुत नहीं हैं, पर हैं श्रीमंत। वे सुब्रह्मण्य भगवान को पूजते हैं। हिंदू मंदिर यहाँ दुटपौंजिये नहीं, वरन् निर्माताओं के वैभव की साक्षी देते हैं। सैगोन पूर्वी एशिया का पैरिस है, उसका सौंदर्य और वैभव देखते ही बनता है। अनामी और कंबोजी नागरिकों के चेहरे भारतीयों से मिलते हैं। उनकी नसल आर्य है। वे हिंदुओं की संतानें हैं। ..

फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के पतन के साथ पूर्वी एशिया में वियतनाम के अतिरिक्त कंबोडिया और लाओस भी स्वतंत्र हुआ। फ्रांस ने इस सारे क्षेत्र पर अपना आधिपत्य जमाया था और उसे 'इण्डोचाइना' हिंद-चीन का नाम दिया था। पर जब फ्रांसीसी वहाँ से सन् १९५४ में उखड़े तो उन्होंने चलते-चलते उस क्षेत्र में गृह-युद्ध की आग लगा दी। फलस्वरूप उस क्षेत्र की एकता नष्ट हो गई और वहाँ के देश कई दुकड़ों में बँट गए। यों छोटे-छोटे रुप तो फ्रांस के शासन काल में थे, पर वे सभी सत्ता रहते थे। फ्रांसीसियों के हटते ही वे उभर पड़े और अलग-अलग स्वतंत्र राष्ट्र हो गए। अब वियतनाम दो हिस्सों में बँट गया है। लाओस का भी बहुत बड़ा भाग कम्युनिस्ट हथियाएं बैठे हैं। लाओस और वियतनाम के बीच में कंबोडिया पड़ता है, उसकी राजनीतिक स्थिति कुछ ठीक है। वहाँ का मनोनीत प्रधान मंत्री है-राजकुमार सिंहनुक और राज-प्रमुख है उसकी वृद्धा माता। इस प्रकार राजसत्ता का सर्वेसर्वा सिंहनुक ही है। यहाँ की हरी-भरी उपजाऊ भूमि में चावल, गन्ना, पटसन खूब होता है और वह निर्यात भी किया जाता है।



भारतीय धर्मानुयायी—कम्बोडिया

इतिहासकार केंटलई और ली० टाओ युआन के कथनानुसार ईसा की तीसरी शताब्दी में कम्बोडिया में हिंदूराज स्थापित हो चुका था। वहाँ उपलब्ध लेखों से विदित होता है कि प्राचीनकाल में वहाँ एक असभ्य जाति रहती थी, जिसकी रानी का नाम 'ल्यू ए' अथवा सोमा था। भारत से पहुँचे कौडिन्य नामक ब्राह्मण से उसने विवाह कर लिया। यह इंद्रप्रस्थ के राजा अमृत्यवेश का पुत्र था। सोमा और कौडिन्य से जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वही आगे चलकर कम्बोडिया का शासक बना। उसने छोटे-छोटे कई राज्य स्थापित किए। इंद्र वर्मन, श्रेष्ठ वर्मन, जय वर्मन, रुद्र वर्मन, गुण वर्मन, भव वर्मन आदि शासक इसी वंश के थे। पीछे इसी वंश में वीर वर्मन, ईशान वर्मन, भृहेंद्र वर्मन, शंभु वर्मन, यशो वर्मन, राजेंद्र वर्मन, उदयादित्य वर्मन आदि शासकों की लंबी परंपरा चल पड़ी। इन लोगों ने कोई छह राज्य बनाए जिनके नाम कपिलवस्तु, श्रावस्ती आदि रखे। भारतीयों के जत्थे इसके बाद लगातार पहुँचते रहे और पाँचवीं, छठी शताब्दी में हिंदू धर्म के साथ बौद्ध धर्म भी जड़ें जमाने लगा। गुण वर्मन द्वारा अंकित कगए शिलालेखों से स्पष्ट है कि उसके शासनकाल में शिव, विष्णु एवं बुद्ध की उपासना प्रचलित थी। वेदपाठी विद्वान ब्राह्मण वहाँ मौजूद थे। हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म के मानने वाले प्रीतिपूर्वक साथ रहते थे, चीनी इतिहास ग्रंथ “तांग वंश का इतिहास” और “सुईवंश का इतिहास” यह बताते हैं कि छठी और सातवीं शताब्दी में कौडिन्यवंशी शासकों द्वारा कम्बोडिया में सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था चलाई जा रही थी और चीनी व्यापारी भी वहाँ घुस पैठ करने में दत्तचित्त थे।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २१३

कंबोडिया प्राचीन काल में कंबुज कहा जाता था और अब उसे अनाम कहते हैं। अब उसके निवासी किसी भी वंश या धर्म के हों, प्राचीनकाल में निश्चित रूप से भारतीय धर्मावलंबी और भारतवंशी थे। यहाँ की मेंकांग नदी का नामकरण भी कोंग शब्दों को मिलाकर किया गया है। जिसका अर्थ वहाँ की भाषा में ‘गंगा माता’ होता है। सचमुच वहाँ उस सरिता को मात्र जल-प्रवाह नहीं माना जाता वरन् भारतीयों द्वारा गंगा के प्रति जो ऋद्धा भाव है, उसी के अनुसार मेंकांग को भी उस देश में सम्मानास्पद माना जाता है।

यों प्राचीनकाल में इस देश का भारत और चीन से स्थल संपर्क भी था, पर जल यात्रा अधिक सरल और निरापद होने से प्रायः उसी का प्रयोग किया जाता था। भारतीय सभ्यता वहाँ समुद्र मार्ग से ही पहुँची।

कंबोडिया में प्रचलित एक जनश्रुति के अनुसार ‘कंबु’ स्वयंभू मनु नामक महापुरुष ने उस देश को बसाया, उसकी संतानें, कंबु कहलाईं। भारत में जिस प्रकार मनु की संतान का मानव कहलाना प्रचलित है, उसी प्रकार उस देश के निवासी भी अपने को कंबु स्वयंभू मनु की संतान मानते हैं। अन्य कंबोज गाथाओं के अनुसार भारत से कंबु ऋषि वहाँ पहुँचे। उस देश की राजकुमारी मीरा से उन्होंने विवाह किया और उन्हीं के नाम पर देश का नाम कंबुज पड़ा।

वर्तमान राजधानी “नाम पेन्ह” का इतिहास यह बताया जाता है कि पेन नामक एक महिला को नदी में बुद्ध भगवान की मूर्ति मिली। वह उसने निकाली और एक झोंपड़ी में रखकर उन्हीं को समक्ष साधना करने लगी। लोग उसके दर्शन करने पहुँचने लगे और धीर-धीर वहाँ एक बस्ती बस गई, जिसका नाम पड़ा ‘पनीम पेन’। पनीम का अर्थ होता है-पहाड़ी। तपस्विनी पेन वाली पहाड़ी को ध्यान में रखते हुए उस बस्ती का जो नाम पड़ा वही पीछे बदलकर ‘नीमपेनया नाम पेन्ह’ हो गया। इसके समीपवर्ती क्षेत्र में कितने ही भव्य बौद्ध अवशेष उपलब्ध हैं। उस तपस्विनी के उपरांत वह क्षेत्र बौद्ध धर्म का

क्षेत्र बनता चला गया। चौदहवीं सदी का यह आरंभ अठारहवीं सदी तक फलता-फूलता चला गया।

अब वहाँ तिक्कती, वर्मी और 'मों रूपेट' नसल के लोगों का बहुल्य है, पर पुरातत्ववेत्ताओं को खुदाई में जो अवशेष मिले हैं, उनसे स्पष्ट है कि उनमें "प्रोटो इंडोनेशिया नसल" के लोग ही थे। मध्य और पूर्व भारत में मुँड और खस जातियाँ इसी नसल की हैं। श्रीवागची ने अपनी पुस्तक "पूर्व आर्य और पूर्व द्रविण" 'ग्रंथ में इतिहासकार लेवी, प्रिजुलस्की तथा जूब्लैक के लेखों का संकलन किया है। इन लेखों से यही सिद्ध होता है कि कम्बोडिया के प्राचीन निवासी भारतीय नसल के थे। पुरातत्ववेत्ता क्रोम तो इससे एक कदम और भी आगे बढ़ गए हैं। उन्होंने तो कहा है कि जावा निवासी पहले भारत में बसे, वहाँ उन्होंने अपनी जड़ें जमाई और पीछे मजबूत होकर कम्बोडिया आदि पहुँचे।

कंबोडिया की प्राचीन भाषा भारत में उन दिनों प्रचलित मुँड और खस लोगों की भाषा से बहुत कुछ मिलती है। बौद्ध जातक कथाओं में इस देश का उल्लेख 'कर्पूर द्वीप'-नारिकेल द्वीप के नाम से किया गया है। यहाँ नारियल, कपूर और मसालों का अधिक उत्पादन है। 'टालेमी' के "हिंद-चीन तथा इण्डोनेशिया के हिंदू राष्ट्र" ग्रंथ में उस समय भारतीयों द्वारा बनाए गए ऐसे विशाल जलपोतों का वर्णन है, जिन पर सवार ७०० व्यक्ति आसानी से लंबी समुद्री यात्राएँ करते थे। इन्हीं पर सवार होकर धर्मप्रचारक, व्यापारी तथा राजवंशी लोग वहाँ पहुँचे थे। इस क्षेत्र में प्राचीन प्रचलन जिस प्रकार की वर्ण व्यवस्था तथा धर्म व्यवस्था का था उसे देखते हुए प्रतीत होता है कि वहाँ पहले धर्मप्रचारकों का ही पदार्पण हुआ होगा। इन लोगों ने न केवल कम्बोडिया में वरन् हिंद-चीन, इण्डोनेशिया, ब्रह्मा, मलाया आदि में भी भारतीय संस्कृति की पताका फहराई थी। ब्रह्मा से लेकर हिंद-चीन तक के सारे क्षेत्र में हिंदू सभ्यता का प्रचलन था। फ्रांसीसी शोधकर्ता 'पिलियो' ने लिखा है कि "इस क्षेत्र में

उपलब्ध प्राचीन शिलालेखों की लिपि हिन्दू-सभ्यता की देन है। इतिहासकार पेरीपियस ईसा की प्रथम शताब्दी में हुए थे। उन्होंने अपने समय में भारतीय जहाजों के मलाया, हिंद-चीन आदि के लिए जाने का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि अब से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारतीयों द्वारा अपनी सभ्यता का प्रवेश इस क्षेत्र में हो चुका था।''

जय वर्मन चतुर्थ का शासन काल शक ८३४ से ९२१ माना जाता है और जय वर्मन (पंचम) का शक ८९० से ९६८ तक। इन लोगों ने जय वर्मन (प्रथम) की परंपराओं का अनुकरण करके अपने नाम को सार्थक बनाने में कुछ कसर न रखी। भारत में कई विक्रमादित्य हुए हैं और उन्होंने भी प्रथम विक्रमादित्य की परंपराओं का अनुकरण करने का जय वर्मनों की तरह ही प्रयास किया था। जय वर्मन (छठा) शक संवत् १००४ से १०१८ तक और जय वर्मन (सप्तम) ११०४ से ११८२ तक शासनरूप रहे थे।

कम्बोडिया के शासकों में सबसे अधिक सफल, कुशल और लोकप्रिय जय वर्मन माना जाता है। उस प्रिय नाम का अनुकरण उसके अगले वंशज भी करते रहे। अस्तु, जय वर्मन द्वितीय और तृतीय भी हुए हैं। जय वर्मन द्वितीय ने आक्रमणकारियों के चंगुल में फँसे अपने देश के एक बड़े भाग को बंधन मुक्त कराया, उसे समृद्ध सुसंगठित किया तथा अच्छी शासन व्यवस्था दी। इसका शासन काल शक संवत् ७२४ से ८०२ तक रहा है। इसने भारत से हिरण्यदास नामक एक विद्वान ब्राह्मण को बुलाया जिसके वंशज कई पीढ़ियों तक राज-पुरोहित रहे। जय वर्मन तृतीय का शासन काल ८५४ ई० से ८७७ ई० तक माना जाता है। यह विष्णु भक्त था। वर्मन वंश की रानियाँ भी राजकीय तथा धर्म प्रयोजनों में उत्साहपूर्वक भाग लेती रही थीं।

सन् ८७७ से लेकर सन् १००० तक वर्मन वंश के कोई ७ राजा सिंहासनरूप हुए। इस अवधि में कंबोडिया की राजकीय

तथा धार्मिक प्रगति उत्साहवर्द्धक गति से आगे बढ़ी। उन्होंने अपने देश की सीमा का विस्तार दक्षिण चीन तक पहुँचा दिया। साथ ही धार्मिक प्रसार-प्रयासों को भी भरपूर बढ़ावा दिया। इंद्र वर्मन ने कई भव्य मंदिर बनवाए और इंद्रतड़ाग खुलवाया। यशोवर्मन ने महाकाव्य पर एक टीका स्वयं लिखी। शिवपुरी में एक महाविद्यालय खुलवाया। कितने ही आश्रम बनवाए। हर्ष वर्मन का बनाया हुआ मंदिर 'नाम वकैंक' की पहाड़ी के समीप है। इस अवधि में त्रिभुवनेश्वर स्वामी-शिवसोम आदि विद्वानों द्वारा धर्म विस्तार के लिए किए गये अर्थक प्रयास भी उल्लेखनीय हैं। उन दिनों शैव और बौद्ध धर्म की अच्छी प्रगति होती रही थी और उन्हें कंबोडिया निवासी अपनी रुचि के अनुकूल अपनाते रहे हैं।

यशोवर्मन ९१० ई० में स्वर्गवासी हुए। उनके उपरांत राजेंद्र वर्मन और जय वर्मन (पंचम) का नाम आता है। सन् १००२ में सूर्य वर्मन (प्रथम) का शासन था। सन् १०४९ में उसका पुत्र उदयादित्य वर्मन सिंहासनारूढ़ हुआ। सूर्य वर्मन (द्वितीय) १११२ में गद्दी पर बैठे। कम्बोडिया का अंतिम हिंदू राजा जयवर्मन (सप्तम) था। तेरहवीं सदी में स्याम के राजा उस पर भारी आक्रमण करने लगे थे। सोलहवीं शताब्दी में इन आक्रमणकारियों का आधिपत्य भी हो गया। तब से अब तक स्यामी राजाओं के बौद्ध धर्मानुयायी वंशज उस देश पर राज्य कर रहे हैं।

कंबोडिया में पहले वैष्णव धर्म पहुँचा था पीछे बौद्ध धर्म गया। वहाँ दोनों का अच्छा समन्वय दिखाई देता है। भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार है। साहित्य में रामायण, महाभारत आदि भारतीय पुराणों की कथाओं का बाहुल्य है। 'पूजा उपासना, कर्मकांड एवं प्रथा परंपराएँ' भारत से मिलती-जुलती हैं। स्वर और व्यंजनों का क्रम भी वैसा ही है। मंदिरों तथा ऐतिहासिक स्थानों में उपलब्ध मूर्तियों, भिति चित्रों, शिलालेखों से भारत में प्रचलित परंपराओं का भली प्रकार दिग्दर्शन होता है और लगता

है कि यह देश सांस्कृतिक दृष्टि से अभी भी भारत का अविच्छिन्न अंग है।

कंबोडिया में चौदहवीं सदी का बना ईश्वरपुर में एक मंदिर है जिसमें गवण द्वारा कैलाश पर्वत हाथों पर उठाए जाने की प्रतिमा है। हेम शृंगार नगर के मंदिरों में हनुमान के कंधे पर बैठे हुए राम तथा सीता की अग्नि परीक्षा के भव्य चित्र हैं।

शिव, विष्णु, कार्तिकेय, गणेश, शालिग्राम, सूर्य, दुर्गा, भवानी, भगवती चतुर्भुजा, सरस्वती, गंगा, इंद्राणी आदि की प्रतिमाएँ स्तुतियाँ, स्थापना एवं उनके लिए बने देवालयों के भी अनेकों प्रमाण उपलब्ध हैं। कई जगह तो इन देवी-देवताओं की तथा उस प्रदेश के स्थानीय देवताओं की मूर्तियाँ अभी भी स्थापित और पूजित हैं। पीछे राजा लोग अपने को तथा अपने पूर्वजों को भी देवता सिद्ध करने के लिए अपनी मूर्तियाँ भी बनाने लग गए थे और उनका भी पूजन स्तवन होने लग गया था। कुल देवियों और कुल देवताओं का प्रचलन इसी प्रकार बढ़ गया। राजवंश के ख्यातिनामा लोग प्रजाजनों द्वारा पूजे जाने लगे।

प्राचीन कंबोडिया में समय-समय पर संपन्न हुए विशालकाय यज्ञानुष्ठानों का भी वर्णन मिलता है। सम्राट ईशान वर्मन, हर्ष वर्मन और राजेंद्र वर्मन अपने-अपने समय के यज्ञों के होता यजमान बने थे। सूर्य वर्मन ने लक्ष होम तथा कोटि होम किए थे और पुरोहितों को विपुल दक्षिणा दी थी। मध्य देश नामक एक महिला द्वारा भी एक विशाल यज्ञ कराया गया था। उन दिनों ऋषियों तथा तपस्वियों की कमी नहीं थी। इस क्षेत्र में नर और नारी समान रूप से प्रवेश करते थे। मिन्नामल महीधर नामक पुरुष तपस्वियों तथा उमा, इंद्रा नामक साधिकाओं का शिलालेखों में चमत्कारी वर्णन मिलता है।

बौद्ध धर्म कंबोडिया में हिंदू धर्म का एक अंग बनकर ही रहा। उसकी ब्राह्मण धर्म से न तो पृथकता थी और न प्रतिस्पर्द्धा। वरन्

प्रचलित अनेक पंथ-संप्रदायों की तरह बौद्ध धर्म भी हिंदू समाज का अविच्छिन्न अंग बन कर रहा और एक ही उद्यान में उगे अनेक वृक्षों की तरह वह भी समान रूप से पोषण पाता रहा और फलता-फूलता रहा।

उस काल में वहाँ वेद-शास्त्र के ज्ञाता एवं यज्ञादि कर्मकाण्डों में निष्णात विद्वान ब्राह्मणों की अच्छी संख्या थी। संस्कृत भाषा का प्रचलन था। प्राचीन पुस्तकों तथा शिलालेखों में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग हुआ है। हस्तलिखित पुस्तकों में प्रायः भारत में प्रचलित धार्मिक पुस्तकों के ही अंश हैं। साहित्य, कला, चिकित्सा, तंत्र आदि पर जो ग्रंथ मिले हैं उन्हें एक प्रकार से भारतीय साहित्य की ही अनुकृति कह सकते हैं। ब्राह्मी लिपि का भारतीय वर्णमाला के अनुकूल प्रयोग होता था।

यशोवर्मन के शासन काल में १०० महाविद्यालयों में उच्च कोटि की शिक्षा व्यवस्था का उल्लेख है। इनके साथ मंदिर और पुस्तकालय भी रहते थे। अन्य शासकों के शासन काल में विद्यालय तो थे पर उनकी संख्या का विवरण नहीं मिलता। उच्च कक्षाओं को पढ़ाने वाले उपाध्याय और छोटी कक्षाओं को पढ़ाने वाले अध्यापक कहे जाते थे। प्राध्यापकों में सोमशिव, शंकर स्वामी, विनय पंडित, जयमाला, जयेंद्र, फलप्रिय, योगेश्वर, अगस्त्य, सर्वज्ञ मुनि, जय महा प्रधान, केशव आदि का गौरवास्पद उल्लेख है। अध्यापिकाओं में जनपदा, राजदेवी, तिलका, इंद्रादेवी, जयराज देवी आदि के नाम आते हैं। इनमें से कुछ तो राज परिवारों से संबंधित थीं।

फ्रांसीसी इतिहासकार कोड बार्थ तथा बरगन के कंबुज तथा चंपा के संस्कृत लेख-संकलन में कंबोडिया के प्राचीन इतिहास पर अच्छा प्रभाव डाला गया है। इन विद्वानों ने उपलब्ध अवशेषों तथा लेख उद्धरणों का हवाला देते हुए जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे यही सिद्ध करते हैं कि कंबोडिया प्राचीनकाल में एक प्रकार से छोटे भारत की

स्थिति में था। वहाँ भारतीय धर्म और संस्कृति का ही पूरी तरह अधिपत्य था।

विद्वान फिनो ने “सुदूर पूर्व पत्रिका” के भाग २५, २८, २९ में “अंगकोरवाट से प्राप्त लेख” शीर्षक जो विवरण प्रस्तुत किए हैं, वे यही बताते हैं कि संसार के इस अद्भुत ध्वंसावशेष के निर्माण की प्रेरणा, कथा तथा साधन-सामग्री का भारत से ही आयात किया गया। पुरातत्ववेत्ता ‘पामांतिये’ के ‘चंपा तथा कंबुज के लेख’ प्रकाशन में जो भी निष्कर्ष हैं उनसे अनाम तथा कम्बोडिया में भारतीयता की जड़ें गहराई तक जर्मीं हुई सिद्ध होती हैं। आमोनिये द्वारा लिखित “प्राचीन कंबुज का इतिहास” और विगो के “हिंद-चीन और हिंदनेशिया के हिंदू राष्ट्र” ग्रंथों से भी इस तथ्य का समर्थन होता है कि इस क्षेत्र की शासन व्यवस्था तथा सांस्कृतिक उन्नति में भारतीयों का असाधारण योगदान रहा है।

नौवीं, दसवीं, शताब्दी में कंबोडिया का स्वर्णिम युग था। उस वैभवशाली युग में प्रत्येक शासक ने अपनी ओर से इस क्षेत्र में निर्माण कार्य जारी रखा और क्रमशः ‘अंगकोरवाट’ अधिकाधिक विकसित होता चला गया।

समय के परिवर्तन में इस वैभव को अपनी काली चादर में छिपा लिया और मुद्रदतों तक यह विशाल भवन उपेक्षित एवं अविज्ञात पड़े रहे और खंडहर बनते गए। सन् १८६१ में एक फ्रांसीसी पुरातत्ववेत्ता ने इन अवशेषों को ध्यानपूर्वक देखा और इस अद्भुत उपलब्धि पर हर्ष-विभोर होकर नाचने लगा।

प्राचीन अंगकोर के ध्वंसावशेष १५ मील से अधिक भूमि परिधि को घेरे पड़े हैं। इस क्षेत्र को ‘अंगकोरवाट’ कहते हैं। यहाँ के अपूर्व भवनों को देखकर मनुष्य की आश्चर्यजनक निर्माण शक्ति पर अवाक रह जाना पड़ता है। इसे संसार भर में उपलब्ध ध्वंसावशेषों में सबसे अधिक विशाल और बहुमूल्य कहा जा सकता है। पुराने समय में जबकि यांत्रिक साधनों का अभाव था

किस प्रकार इतनी कलात्मक, इतनी विशाल, इतनी बहुमूल्य इमारतें बन सकी होंगी। इस रहस्य पर आज के इंजीनियरों को आश्चर्य होता है। इसका महा प्रांगण पेरिस के प्रसिद्ध “पैलेस दला कांकोई” से चार गुना बड़ा है।

भव्य भवनों की पथर से बनी लंबी दीवारें ऐसी लगती हैं मानो वे एक ही पथर को काटकर बनाई गई हों, जोड़ तो हैं पर ये इतने हल्के हैं कि बिना विशेष जाँच-पड़ताल किए वे नजर ही नहीं आते। पथरों की नकाशी देखते ही बनती है। प्रधान मंदिर के चार विशाल संभ इतने ऊँचे हैं कि उन्हें देखने के लिए गरदन को ऊपर तक तानना पड़ता है।

‘प्यरे लोती’ नामक जलयान के कप्तान ने अपने संस्मरणों में लिखा है—अंगकोर को देखकर बुद्धि हतप्रभ हो जाती है। जब ऊपर चढ़ते हैं तो लगता है कि स्वर्ग की ओर बढ़ रहे हैं। चारो ओर नजर दौड़ाते हैं तो लगता है कि मंदिर जमीन से ऊपर उठता चलता है। ऊँचाई के असीम दर्शन से बुद्धि ठगी सी रह जाती है।

कंबोडिया की राजधानी ‘नाम पेन्ह’ है। यह बड़ा सुंदर नगर है। कंबोजी जनता धार्मिक प्रकृति की है, इसमें बौद्ध भिक्षुओं की संख्या बहुत है। भारत में हिंदू साधुओं की तरह उस देश में भी बौद्ध भिक्षु झुंड के झुंड विचरण करते पाए जाते हैं।

‘नाम पेन्ह’ को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक पुरानी बस्ती जिसमें भारतीय ढंग की बसावट, बौद्ध, पेगोडा, हिंदू मंदिर तथा राज प्रसादों की भरमार है। दूसरी नई बस्ती—यह फ्रांसीसी ढंग पर बसी है। इसमें प्रवेश करने पर ऐसा लगता है, मानो योरोप के किसी आधुनिक बसे नगर में घूम रहे हों।

पुरानी बस्ती का वैभव भी देखते ही बनता है। राजप्रसादों में बने गुंबज और उन पर रखे कलश बहुत दूर से दिखाई पड़ते हैं। महलों की दीवारों पर भारतीय पौराणिक गाथाओं के चित्र खुदे हैं। एक भवन का ३५ फुट चौड़ा १२५ फुट लंबा फर्श ही चाँदी का बना है। चाँदी की

तह आधा इंच मोटी है। इसमें ठोस स्वर्ण की बनी करोड़ों रुपये मूल्य की बुद्ध प्रतिमा है, जिसे राज-परिवार के लोग पूजते हैं।

नाम पेन्ह से ८० मील दूर “अंगकोरवाट” है। इसे राजा सूर्य वर्मन ने बनवाया था। इसके अवशेष मीलों तक बिखरे पड़े हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की विशालकाय मूर्तियाँ कलाकुशल हाथों की बनाई हुई हैं। शिल्पकला और वास्तुकला की दृष्टि से यह संसार भर के ध्वंसावशेषों में अद्वितीय है। इनके सामने रोम, मिश्र और यूनान के विशालकाय खंडहर भी तुच्छ प्रतीत होते हैं। इस क्षेत्र में संस्कृत भाषा के अनेक शिलालेख बिखरे पड़े हैं। बौद्ध धर्म का प्रचार होने पर उन्हीं में स्थापित की गई बुद्ध प्रतिमाएँ भी विद्यमान हैं।

चीनी इतिहासकारों के अनुसार अब से कोई सवा हजार वर्ष पहले केरल के राजा सूर्य देव ने ऐतिहासिक ‘अंगकोरवाट’ के मंदिरों को बनवाया था। शासकों की तीन पीढ़ियों ने उसे ७० वर्ष में बनाकर पूरा किया था।

यह २१ वर्गमील में फैला हुआ है। इसे देखने को संसार भर के पर्यटक पहुँचते हैं। कंबोडिया की अर्थ व्यवस्था को सुधारने में इन पर्यटकों का बड़ा हाथ रहता है। संसार की कई हवाई जहाज कंपनियों ने यात्रियों के ठहरने के सैकड़ों कमरे वाले होटल बनवाए हैं। “एयर फ्रांस” द्वारा बनवाया होटल लगभग ५०० कमरों का है। योरोप के कई बड़े देशों की सीधी विमान सेवा अंगकोरवाट के लिए पहुँचती है। चीन ने सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए एक हवाई अड्डा अपनी ओर से बनाकर कंबोडिया सरकार को भेंट किया है।

एक बार भारत के राष्ट्रपति श्री राजेंद्र प्रसाद वहाँ गए और “अंगकोरवाट” को देखकर मुग्ध हो गए। इस मंदिर में एक कमरा जादू जैसी विशेषता का है। उसमें घुसकर कोई अपने हृदय पर हाथ मारे तो प्रतिध्वनि “ओम” जैसी गूँजेगी। शरीर के अन्य किसी भाग पर हथेली मारे तो वैसा गुँजन नहीं होता। एक बार

पं० जवाहरलाल नेहरू वहाँ पहुँचे थे और इस विलक्षणता को देखकर चकित रह गए थे।

ऐसी ही और भी कितनी ही विशेषताएँ इस अवशेष में हैं। चूने का उपयोग कम ही हुआ है। पथर रखकर उसे इतनी मजबूती से बनाया गया है कि इतना लंबा समय बीत जाने पर भी उसमें हिलने-डुलने की कमजोरी नहीं आई है। खुदाई अभी भी चालू है। हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ जितनी कलापूर्ण इसमें बन पड़ी हैं, उसकी तुलना में भारत में बने कम मंदिर ही ठहरते हैं।

मंदिरों, स्मारकों, दुर्गों, भवनों की शिल्प कला में पूरी तरह भारतीयता का समावेश है। वे ऐसे लगते हैं मानो भारत में बने हों अथवा भारतीयों ने वहाँ पहुँचकर बनाए हों। भारत में बनी इस प्रकार की इमारतों और कंबोडिया के इन भवनों में तुलना की जाए तो प्रतीत होता है कि किसी न किसी की हूबहू नकल करने का प्रयत्न किया है। समय ने बहुत कुछ पलट दिया है। अब वहाँ की जनता पर पहले जैसी हिंदू धर्म की छाप नहीं है। मुसलमान और ईसाई धर्मों ने भी अपनी गहरी जड़ें जमाली हैं। फिर भी जो कुछ बचा है उससे यह स्पष्ट है कि वहाँ बौद्ध और हिंदू संस्कृति का लोप नहीं हुआ है। अभी भी जो बचा है उसे सोंचा, संभाला जा सके तो यह मुरझाया वृक्ष पुनः पूर्वकाल की तरह हरा-भरा हो सकता है।

‘तेप प्रानम’ में मिले लेख से प्रतीत होता है कि यशोवर्मन के बनाए “सौगाताश्रय वीया विहार” में वैष्णव और शैव धर्म की भाँति ही बौद्ध धर्म भी पढ़ाया जाता था। सूर्य वर्मन के शासनकाल में हिंदू धर्म की भाँति बौद्ध धर्म को भी राज्याश्रय मिला था। यही नीति अन्य शासक एवं विद्यालय भी अपनाते रहे थे।

कम्बोडिया की वर्ण व्यवस्था, नवीन जातियों का उद्गम, विवाह प्रथा, वेशभूषा, खान-पान, वस्त्र-आभूषण, पात्र, स्त्रियों की स्थिति, मृतक संस्कार आदि पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है

कि वहाँ ब्राह्मण-धर्म प्रचार के लिए और क्षत्रिय-शासन व्यवस्था के लिए पहुँचे थे। उन्होंने विवाह उसी देश की स्त्रियों से किए और अपने वंश चलाए। चीनी इतिहासकार पीलियो के अनुसार एक हजार के करीब विद्वान ब्राह्मणों का आधिपत्य था, इनमें शिव कैवल्य, हिरण्यदास, अगस्त्य, दिवाकर, हषिकेश, वामशिव, शिवाचार्य, त्रिभुवनराज, लौज युधिष्ठिर, जयेन्द्र पंडित, योगीश्वर, पृथ्वीद्र पंडित, गुण पंडित, कवीद्र, विशालाक्ष आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। क्षत्री वहाँ पहुँचकर विशुद्ध क्षत्री नहीं रह गए थे, उनके विवाह शादी ब्राह्मणों के साथ होते थे। अस्तु, उन्हें ब्रह्मक्षत्र कहा जाता था। कितने ही राजाओं ने अपनी कन्याएँ पुरोहितों तथा विद्वानों के साथ विवाही थीं। इसी प्रकार कई ब्राह्मण कन्याएँ भी राज-परिवारों में सम्मिलित होकर क्षत्रिय संतान की माता बनी थीं। पहले वहाँ चार ही वर्ण थे, पीछे उनके वंश सम्मिश्रण से तीन जातियाँ और बन गईं। इस प्रकार वहाँ सात जातियों का-सप्त वर्णों का प्रचार हो गया। इसका वर्णन इलियट की पुस्तक “भारत का उसके इतिहासकारों द्वारा इतिहास” पुस्तक में विस्तार-पूर्वक दिया गया है।

श्री चटर्जी की “कंबुज में भारतीय संस्कृति का प्रभाव” पुस्तक में इस समय वर्हा पुरुषों में धोती, कमर में फेंटा और कंधे पर दुपट्टा डालने का प्रचलन बताया गया है। उस काल के उपलब्ध चित्रों में तत्कालीन शासकों और नागरिकों को इसी वेश-भूषा का अभ्यस्त दिखाया गया है। महिलाएँ लँहगा पहनती थीं। पिलियों की “चे औ टाकुअन” की कथा में स्त्रियों के आभूषणों में हार, कर्णफूल, छल्ले, कंगन, बाजूबंद, करधनी, नूपुर आदि का उल्लेख है। वे विशेष अवसरों पर मेंहदी रचाती थीं। पुरुष गले में हार और कानों में कुंडल पहनते थे। स्त्रियों में जूँड़ा बाँधने और माथे पर चंदन लगाने का रिकाज था। यह वेश भूषा विशुद्ध रूप से भारतीय परंपरा के अनुकूल है। चीनी इतिहास की पुस्तक ‘तांग

वंश का इतिहास' में तत्कालीन खाद्य पदार्थों, गीत-वाद्य, नृत्य आदि का जैसा वर्णन है उससे स्पष्ट है कि उस समय वहाँ की प्रथा में पूरी तरह भारतीयता का समावेश था।

मुरदों को जलाने अथवा नदी प्रवाह करने, श्राद्ध-तर्पण करके मृतात्माओं को संतुष्ट करने जैसे मरणोत्तर विधि विधान का वर्णन है। मृतक के शोक में उनके वंशज सिर के बाल मुँड़ाते थे। विवाह अग्नि की साक्षी में उसकी परिक्रमा करते हुए संपन्न होते थे। बच्चों के कान छेदने और सिर के बाल मुड़ाने के समय उत्सव होते थे।

इन दिनों कंबोडिया का राज धर्म बौद्ध है। जनता प्रायः बौद्ध धर्मावलंबी ही है, पर पूजाग्रहों में वहाँ धनुषधारी राम और हनुमानजी की प्रतिमाएँ भी स्थापित हैं। सरकारी मुद्रा पर हनुमानजी छपे हैं। सेना के ध्वज पर भी हनुमानजी विराजे हैं। राजधानी 'नाम पेन्ह' के आधुनिकतम खेल स्टेडियम पर हनुमानजी की विशाल प्रतिमा स्थापित है। हनुमानजी वहाँ के मानस देवता हैं। कंबोडिया में बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म का ऐसा सुंदर समन्वय दिखाई पड़ता है मानो वे दोनों एक शरीर में जुड़े दो हाथ हैं।

वर्मा और थाईलैंड की तरह ही कंबोडिया की वर्णमाला भी देव नागरी के अनुसार बनी है। अक्षरों की आकृति में थोड़ा अंतर है। वहाँ की भाषा में संस्कृत शब्दों की प्रधानता है। यहाँ के विश्वविद्यालय में संस्कृत और पाली भाषा पढ़ाने की विशेष व्यवस्था है। सांस्कृतिक दृष्टि से कंबोडिया पूर्व एशिया के सभी देशों की तुलना में भारत के अधिक निकट है। यह सारा क्षेत्र अमेरिका और चीन के शक्ति संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है। कंबोडिया इस खतरे से भयभीत है और तटस्थता की नीति अपनाकर किसी प्रकार अपनी जान बचा रहा है।

नाम पेन्ह तथा आस-पास के नगरों में भारतीय भी बहुत हैं, उनमें से अधिकांश सिख धर्मानुयायी हैं। कितने ही गुरुद्वारे बने हैं और गुरु ग्रंथ साहब का पाठ होता है।

राजतिलक के अवसर पर थार्डलैंड की तरह कम्बोडिया के राजा को भी धोती, कुर्ता पहनना पड़ता है। विशेष अवसरों पर भी वे इसी पोशाक को पहनते हैं।

कंबोज की राजभाषा १४वीं सदी तक संस्कृत रही है, यह वहाँ पर उपलब्ध शिलालेखों से स्पष्ट है। वहाँ अभी भी बच्चों का मुंडन संस्कार बड़ी धूम-धाम से होता है और कटे हुए बालों को ताम्रपत्र में बंद करके मेंकांग नदी में बहाया जाता है, जो वहाँ गंगा की तरह ही पवित्र मानी जाती है। कंबोडिया के शासकों का राज्याभिषेक वेदमंत्रों के उच्चारण के साथ शैव ब्राह्मणों द्वारा संपन्न होता है। उस समय राज्याधिकारी के एक ओर शिव की मूर्ति रखी जाती है और दूसरी ओर विष्णु की। ज्योतिषी हर शुभ कार्य का मुहूर्त निकालते हैं। सामान्यतया गुरुवार सर्व शुभ माना जाता है। दीक्षा संस्कार वहाँ भी होते हैं। माँगलिक अवसरों पर महिलाएँ रोली और अक्षत से मस्तकों पर तिलक लगाती हैं।

कम्बोडिया की वर्तमान जनसंख्या मात्र सत्तर लाख है। वहाँ बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्राप्त है। वहाँ के प्रायः सभी नागरिक बौद्ध धर्मावलंबी हैं। नाम पेन्ह विश्वविद्यालय में बौद्ध धर्म के अध्ययन का विशेष प्रबंध है।

कंबोडिया के सर्वेसर्वा राजकुमार सिंहनुक ने एक बार दुखी होकर भारी मन से कहा था—“भारत हमारी माता है और चीन हमारा पिता। दुर्भाग्य से हमारी माता ने हमारी परवाह करना छोड़ दिया और हम आश्रय-विहीन होते जा रहे हैं। ”



सुवर्णद्वीप-समूह

जिसे भारतीयों ने बसाया-बढ़ाया

वर्तमान भारत की सीमा तक प्राचीन भारत सीमित न था। तब उसका विस्तार सुदूर पूर्व में फैले हुए द्वीप-समूहों तक था। बर्मा, स्याम आदि देशों तक थल मार्ग से आवागमन था, अस्तु यह क्षेत्र तो सहज ही भारत का अंग था। इसके लिए पृथक नामकरण की आवश्यकता न थी। वे देश एक प्रकार से बृहत्तर भारत के प्रांत ही थे।

सुदूर पूर्व के समुद्र में फैले हुए देशों को उन दिनों अलग नाम दिया गया था। उस क्षेत्र को “सुवर्ण द्वीप” कहते थे। उसकी परिधि में छोटे-बड़े सैंकड़ों द्वीप आते हैं। इन दिनों इस क्षेत्र को (१) मलेशिया (२) जावा (३) सुमात्रा (४) वाली (५) बोर्नियो (६) सिंगापुर आदि नामों से संबोधित किया जाता है। इनकी अपनी-अपनी सीमाएँ भी राजनैतिक उथल-पुथलों ने बना दी हैं। प्राचीनकाल में इस पूरे क्षेत्र का एक ही नाम था “सुवर्ण द्वीप”。 इस क्षेत्र में भारतीयों ने चिरकाल पूर्व प्रवेश किया था और उसे बसाने, समुन्नत बनाने में अनवरत श्रम किया। उन दिनों नौकानयन ही एक मात्र साधन इन लंबी यात्राओं के लिए उपलब्ध था। कितने कष्ट सह कर हमारे पूर्वज वहाँ पहुँचते होंगे और उन वीरान क्षेत्रों को बसाने, विकसित करने में अपने आपको कितना गलाते-घुलाते होंगे, उसके सही स्वरूप की यदि कल्पना की जा सके तो उनकी परमार्थ परायण महानता में किसी प्रकार का संदेह न रह जाएगा।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २२७

इतिहास के पृष्ठों का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि भारत के महत्वाकांक्षी व्यापारी, राजनेता, धर्म-प्रचारक अपनी पहुँच की सीमा तक विदेशों में आते-जाते रहे हैं और अन्यान्य देशों की भौतिक एवं आत्मिक प्रगति में भौतिक योगदान देते रहे हैं।

दक्षिण पूर्व एशिया के देशों को प्राचीन काल में स्वर्ण द्वीप कहा जाता था। संभव है वहाँ की स्वर्णिम आभा-शोभा को, प्रकृति संपदा को देखकर यह नाम दिया गया हो। जहाँ-तहाँ सुनहरी बालू का पाया जाना भी एक कारण हो सकता है। प्राचीन किंवदंतियों में वहाँ सोने की खानों के होने का भी वर्णन है। कारण जो भी रहा हो, भारत में इस क्षेत्र का नाम स्वर्ण-द्वीप प्रचलित था। जावा आदि देश इसी नामकरण के अंतर्गत आते थे।

वाल्मीकि रामायण कांड २ अध्याय ११ में यवद्वीप (जावा) का उल्लेख है। 'महाजनक जातक', 'साहित्य सागर', 'बृहत्त कथा श्लोक सार' आदि ग्रन्थों में व्यापारियों द्वारा उस क्षेत्र की यात्राएँ किए जाने का उल्लेख है। अन्य कई संस्कृत ग्रन्थों में इस भू-भाग का स्वर्णभूमि, स्वर्ण द्वीप, स्वर्ण कूट, स्वर्ण कुंड, हेमकूट आदि नामों से उल्लेख है। 'कौटिल्य अर्धशास्त्र' और 'मिलिंद' ग्रन्थों से भी पता चलता है कि न केवल वहाँ भारतीयों का ही आना-जाना था वरन् वे वहाँ बस भी गए थे।

इतिहासकार स्मिट ने अपने ग्रन्थ 'ए हिस्ट्री ऑफ साउथ ईस्ट एशिया' में सिद्ध किया है कि हिंद, चीन और हिंद एशिया के आदि निवासी भारतीय मूल के थे। उनकी आकृति और परंपरा भारत में पाई जाने वाली 'सुमेर' 'चम' 'मुंडा' और 'खंस' जातियों से मिलती-जुलती थी। भाषा विशेषज्ञों का कथन है कि इस समूचे क्षेत्र में फैली हुई भाषाओं की शब्दावली का आदि स्रोत भारतीय भाषा ही रही हैं। शब्दों में विश्लेषण करने से अधिकांश शब्द भारत से ही उधार गए हैं। 'हिंदू जावानीज' ग्रन्थों के अनुसार भी जावा में आदि निवासी भारतीय मूल के ही थे। उन्हीं के आमंत्रण और सहयोग का

आश्रय पाकर पीछे भारत से अनेक जत्थे वहाँ जाते और बसते रहे। कैलेम, वेल्स, स्टाइन के अनुसार मलाया की सभ्यता का विकास भारतीय सभ्यता के प्रकाश, सहयोग एवं समन्वय के आधार पर ही होता है। स्ट्रटर हाउस के अनुसार वर्मा के पेगू और प्रोम प्रांतों को उड़ीसावासियों ने जाकर आबाद किया था। जावा के पुरातन शिलालेख दक्षिण भारत की पल्लव लिपि में लिखे हुए मिले हैं। हिंद चीन के शिलालेख ब्राह्मी लिपि में है, विद्वान सिडी ने अपने ग्रंथ 'ईस्ट वाक डी लैंड कनिष्ठ' ग्रंथ में सुदूर पूर्व की पुरातन स्थिति का पर्यवेक्षण करते हुए यही निष्कर्ष निकाला है कि यह समूचा क्षेत्र भारतीयों द्वारा विकसित किया गया था।

पुराणों तथा जातक ग्रंथों में स्वर्णद्वीप का वर्णन मिलता है। सुदूर पूर्व में फैले हुए द्वीप समूह के लिए यह स्वर्णद्वीप अथवा स्वर्णभूमि शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन द्वीपों का तात्कालिक नाम अंगद्वीप, यवद्वीप, मलयद्वीप, शंखद्वीप, कुशद्वीप, वराहद्वीप, नागद्वीप आदि था। इनका वर्णन जिस रूप में हुआ है इससे मलाया, जावा, सुमात्रा, कटाह, अंडमान, निकोवार, संखेद्वीप आदि के साथ उनकी संगति पूरी तरह बैठ जाती है। वायु पुराण, हरिवंश पुराण, जातक ग्रंथ, वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में इस क्षेत्र का जिस प्रकार वर्णन है उससे स्पष्ट हो जाता है कि भारत ही इनके विकास का श्रेयाधिकारी है।

विश्व के इतिहास वेत्ता पायमोनियस, पेरीप्लस, प्लिनी, डिओनिसिस, पेरीगेटिस, सोलिनस, माटिआनस, कैपेला, सेविल, इसीडोर, थियोडल्फ, निसेफोरस आदि ने सुवर्ण द्वीप का जिस प्रकार वर्णन किया है उससे यह तथ्य सामने आता है कि वहाँ सर्व प्रथम भारतीय सभ्यता का प्रकाश पहुँचा और उसने उसे क्रमशः अधिक ऊँची स्थिति में पहुँचाने में योगदान दिया। अरबी और चीनी लेखकों द्वारा प्रस्तुत किए गए विवरण भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

भारतीय राजनेताओं के उस क्षेत्र में जाने, बसने और सुशासन की स्थापना में योग देने के उल्लेख इतिहास के पृष्ठों पर मौजूद हैं। चंपा देश में राजकुमार विदेह का पहुँचना, काशी देश के राजकुमार का अराकान में जाना, इंद्रप्रस्थ के राजकुमार का कंबोडिया में पैर जमाना, श्रीपाद वर्मन का जावा में सुशासन आरंभ करना जैसे अनेक प्रमाण ऐसे हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि भारत में बड़े राजकुमार को गद्दी मिलती थी और छोटे राजकुमारों की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती थी। अस्तु, वे समीपवर्ती विदेशों में अपनी कुशलता का परिचय देने के लिए नए क्षेत्रों का निर्माण करते थे। इतिहासकार इत्सिंग ने सातवीं सदी के अपने विवरण में इस बात की विस्तृत चर्चा की है कि पाँचवीं, छठी और सातवीं शताब्दी में भारतीय राजकुमार दलबल सहित जलपोतों द्वारा इस स्वर्णद्वीप क्षेत्र में पहुँचते रहे और छोटे-बड़े शासन स्थापित करते रहे।

पुरातत्त्वीय खोजों से यह निश्चित रूप से प्रमाणित हो चुका है कि दक्षिण पूर्व एशिया के अधिकांश निवासियों की संस्कृति, पाषाण युग की संस्कृति थी, जब वे भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आए। यह तथ्य इंडोनेशिया के जावा, एवं सुमात्रा द्वीपों पर तथा इंडोचाइना के अनाम, कंबोडिया और मलय प्रायद्वीप पर लागू होता है। सुदूर सेलेबीस में बुद्ध की एक कांस्य प्रतिमा, जो अमरावती कला की है, प्राप्त हुई है। यह पाषाण युग की आदिम संस्कृति से कुछ ऊपर स्तर की संस्कृति की है।

हिंदू उपनिवेशकर्ता जब पहली बार सुवर्ण भूमि में आकर बसे, तब उनका यहाँ के आदिम निवासियों से घनिष्ठ संबंध कायम हुआ, जिसके फलस्वरूप यहाँ की आदिम संस्कृति अपने से उच्चस्तर की भारतीय संस्कृति में घुलमिल गई।

बोर्नियो, जावा एवं मलय प्रायद्वीप में प्राप्त संस्कृत शिलालेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय भाषा, साहित्य, धर्म तथा राजनैतिक

एवं सामाजिक संस्थाओं एवं मान्यताओं ने इन सुदूर देशों पर अपना प्रभुत्व कायम किया था। बोर्नियो के राजा मूल वर्मन के कुट्टई शिलालेखों से स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि उस समय का राज दरबार तथा समाज हिंदू संस्कृति के रंग से सरावोर था। पश्चिम जावा में प्राप्त शिलालेखों से भी यह स्पष्ट होता है कि वहाँ का समाज और राज दरबार हिंदू संस्कृति से पूरी तरह प्रभावित किया गया था। यहाँ हमें हिंदू देवताओं के, जैसे विष्णु इंद्र, एरावत के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस देश में भारतीय महीने, खण्डोल विद्या तथा दूरी नापने की भारतीय पद्धति प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त इन नए हिंदू उपनिवेशों में भूगोल संबंधी भारतीय नामों, जैसे 'चंद्रभागा' 'गोमती' आदि का प्रयोग वहाँ की नदियों के नामों के लिए मिलता है।

बोर्नियो तथा मलय द्वीपों में विभिन्न देवताओं की जो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, वे शिलालेखों के प्रमाणों की पुष्टि करती हैं। बोर्नियो में विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, नंदी, स्कंद और महाकाल की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं और मलय प्रायःद्वीप में दुर्गा, गणेश और नंदी की मूर्तियाँ मिली हैं।

जावा में स्थित टुक-मस के ध्वंसावशेष से यह प्रमाणित होता है कि पौराणिक धर्म उस क्षेत्र में जोरों के साथ प्रचलित था। यहाँ की विष्णु एवं शिव की मूर्तियाँ अपनी संपूर्ण विभूतियों के साथ चित्रित हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ के शिलालेखों में गंगा की पावनता का उल्लेख मिलता है।

इन मूर्तियों और शिलालेखों से यह प्रमाणित होता है कि सुवर्ण द्वीप के इन देशों में ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त बौद्ध धर्म भी प्रचलित था। समग्र रूप से देखने पर शिलालेखों से यह विदित हो जाता है कि यहाँ पर संस्कृत भाषा और साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान था। यहाँ के अधिकांश विवरण उत्कृष्ट एवं त्रुटिहीन संस्कृत भाषा में लिखे हैं। भारतीय लिपियाँ सर्वत्र प्रयुक्त होती थीं। मूर्तियों की बनावट में भारतीय कला की छाप पूर्ण रूप से मिलती है। चीनी

विवरणों से पुरातत्त्वीय प्रमाणों की पुष्टि एवं पूर्ति होती है। सबसे पहले हमें चीनी यात्री 'फाहियान' का लेख मिलता है जिसके अनुसार यव द्वीप में ब्राह्मण धर्म जोरों से प्रचलित था और वहाँ बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत ही कम था। फाहियान के साथ जहाज द्वारा चीन जाने वाले २०० व्यापारी ब्राह्मण धर्म के मानने वाले थे। परंतु शीघ्र ही बौद्ध धर्म ने जावा पर अपना प्रभाव डाला, जो कि सन् ५१९ ई० में संकलित चीनी विवरण से प्रकट होता है। उसके अनुसार काश्मीर के बौद्ध भिक्षु राजकुमार गुणवर्मन ने जावा पहुँच कर वहाँ की राजमाता को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। उसके बाद जावा के राजा ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात शनैःशनै बौद्ध-धर्म पूरे जावा में फैल गया।

गुणवर्मन का नाम और उसकी ख्याति चारों दिशाओं में फैल गई। ४२४ ई० में चीनी भिक्षुओं ने गुण वर्मन को चीन में आमंत्रित करने के लिए सप्राट से अनुरोध किया। फलस्वरूप सप्राट ने गुण वर्मन और जावा के राजा के पास अपना दूत भेजा। गुण वर्मन हिंदू व्यापारी जहाज 'नंदिन' में बैठकर सन् ४३१ में नानकिंग पहुँचे। गुण वर्मन के वृत्तांत से यह पता चलता है कि बौद्ध धर्म का जावा में किस प्रकार प्रवेश हुआ और वहाँ ५८० शताब्दी में उसकी जड़ किस प्रकार जमी। दूसरे चीनी यात्री ईत्सिंग के लेखानुसार ७ शताब्दी के अंत तक बौद्ध धर्म का विस्तार सुवर्णद्वीप के अन्य क्षेत्रों हो गया था। चीन से भारत जाते हुए ईत्सिंग श्रीविजय में ६ मास रुका था और उसने वहाँ शब्द विद्या (संस्कृत व्याकरण) की शिक्षा ग्रहण की थी। भारत से चीन लौटते समय भी वह श्री विजय में ठहरा था। यहाँ रहकर उसने बृहद बौद्ध ग्रंथों का जिन्हें वह भारत से लाया था अनुवाद और प्रतिलिपि की थी। इत्सिंग के कथनानुसार दक्षिणी सागर के देशों के बहुत से राजा और सरदारगण बौद्ध धर्म में विश्वास करते थे और उसके प्रशंसक थे। उस समय श्रीविजय में बौद्ध भिक्षुओं की संख्या १००० से अधिक थी।

इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि ७ वीं शताब्दी में बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य के भक्त एवं उपासक सुवर्णद्वीप में थे। इस क्षेत्र में भारतीय ज्ञान, विद्या एवं संस्कृति के विभिन्न केंद्र कायम थे, जो कि विदेशियों को आकर्षित करते थे। इस दिशा में श्रीविजय का महत्व बहुत अधिक था। यह बौद्ध धर्म का एक बड़ा केंद्र तो था ही, साथ ही यह सुवर्णद्वीप में महायान शाखा का सबसे पहला प्रमुख केंद्र था, जिसका व्यापक प्रसार बाद में संपूर्ण सुवर्णद्वीप में हुआ। बहुत से प्रसिद्ध भारतीय बौद्ध भिक्षुगण इस क्षेत्र में पहुँचे और नई दिशाओं में बौद्ध धर्म के प्रचार में योगदान दिया। ७वीं शताब्दी में ही नालंदा के आचार्य 'धर्मपाल' जो कि कांची (दक्षिण भारत) के रहने वाले थे, सुवर्णद्वीप पहुँचे। ८वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में दक्षिण भारतीय बौद्ध भिक्षु 'वज्रबोधि' सीलोन से चीन जाते समय श्रीविजय में पाँच महीने तक रुके। वे और उनके शिष्य 'अमोघवज्र' जो उनके साथ थे, तंत्र विद्या के आचार्य थे। उन्होंने चीन में इस विद्या का प्रवेश कराया।

चीनी विवरणों तथा गुणवर्मन, धर्मपाल और वज्रबोधि के वृत्तांतों से यह स्पष्ट रूप से मालूम हो जाता है कि भारत और सुवर्णद्वीप के बीच नियमित आवगमन स्थापित था। 'लंग-ग सु' से संबंधित वृत्तांत से मालूम होता है कि भारत और सुवर्णद्वीप के बीच सामाजिक संबंध भी कायम था।

भारतीय संस्कृत एवं सभ्यता से सुवर्णद्वीप का केवल धर्म ही प्रभावित नहीं था वरन् वहाँ के राजनीतिक, सामाजिक विचार तथा प्रशासकीय तंत्र भी स्पष्ट रूप से प्रभावित थे। इस संदर्भ में 'टान-टान' राज्य के उल्लेख से पता चलता है कि उसने चीन में अपने राजदूतों को ५३०, ५३५ और ६६६ ई० में भेजा था। यहाँ के राजा का कौटुंबिक नाम था 'कच सचिय' (क्षत्रिय) और उसका निजी नाम 'शिङ्गलगदि' (श्रिंग) था। उसके आठों मंत्रियों में से बड़े मंत्री ब्राह्मणों में से चुने जाते थे। युद्ध में वे हमेशा शंख फूँकते थे और ढोल बजाते

थे। चीनियों के उल्लेख के अनुसार स्वर्णद्वीप में प्रचलित 'क-ल' प्रथा भी भारतीय मूल की है। उनके मृतकों को जलाया जाता था और भस्म को सोने के पात्र में भरकर समुद्र में डूबो दिया जाता था।

सुदूर पूर्व के देशों में भारतीय उपनिवेशवादियों ने अपने मूल देश भारत के सांस्कृतिक विचारों का प्रसार किया। आज भी इन देशों में भारतीय धर्म कथा, भवन निर्माण कला के स्पष्ट चिन्ह प्राप्त होते हैं। इन देशों में भारतीय धर्म के विकास क्रम का अध्ययन एक बहुत ही रोचक विषय है।

भारत के दक्षिण पूर्व और सुदूर पूर्व के उपनिवेशों (बर्मा और स्याम को छोड़कर) में ब्राह्मण धर्म के जिस स्वरूप का प्रसार अधिकतर हुआ था, वह था 'सनातन ब्राह्मण धर्म' जिसने हिंदू सभ्यता एवं संस्कृति के विकास क्रम को प्रभावित किया।

भारत में बौद्ध और सनातन ब्राह्मण धर्म के विकास और हास का जो काम चल रहा था उसकी प्रतिष्ठनि सुवर्ण भूमि के भारतीय उपनिवेशों के धार्मिक इतिहास में भी होती थी, जो कि वहाँ बड़ी संख्या में प्राप्त शिलालेखों, धार्मिक ग्रंथों तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों की सहायता से सिद्ध होती है।

सुवर्ण भूमि में ब्राह्मण धर्म के शैव और वैष्णव संप्रदायों में शैवमत वैष्णव मत से कहीं अधिक प्रभावशाली था और उसने धार्मिक विकास क्रम की संपूर्ण प्रक्रिया को बहुत अधिक प्रभावित किया था। शैव मतानुयायियों की तुलना में वैष्णव मतानुयायियों तथा बौद्धों का प्रभाव कम था, परंतु उनके बीच किसी प्रकार के धार्मिक संघर्ष का कोई चिन्ह प्राप्त नहीं होता वरन् उनके बीच परस्पर सद्भावना और समन्वय के प्रयास के ही पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं।



सुवर्ण द्वीप में हिंदू सभ्यता एवं संरकृति का प्रसार

हिंदू समाज का बुनियादी आधार वह वर्णव्यवस्था प्रणाली है जो कि जावा, मदुरा और सुमात्रा में प्रचलित थी। इसकी जानकारी प्रारंभिक विवरणों में 'चतुर्वर्ण' शब्द तथा यहाँ के साहित्य एवं शिला-लेखों में 'ब्राह्मण', 'क्षत्री', 'वैश्य', 'शूद्र' शब्दों के बार-बार के उल्लेख से स्पष्ट है। इन द्वीपों में यह वर्ण व्यवस्था अपने मूल शुद्ध स्वरूप में कायम थी, जैसा कि मनु संहिता में इसका विवरण है एवं जिस रूप में यह प्राचीनकाल में प्रचलित थी।

बाली और लोमबोक में प्राचीन वर्ण व्यवस्था का जो स्वरूप आज भी प्रचलित है, वह इस प्रकार का है—‘इन द्वीपों के लोग चार वर्गों में विभाजित हैं। इनमें से पहले तीन वर्णों के लोग ‘द्विजाति’ तथा ‘शूद्र’ एक जाति हैं।

ब्राह्मण लोग शिव उपासक अथवा युद्ध उपासक के रूप में दो वर्गों में विभाजित हैं। बाली में राजकीय वंश के लोग वैश्य वर्ण के होते हैं, न कि क्षत्रिय वर्ण के। बाली में शूद्रों को ‘कौलस’ कहा जाता है, पर इन्हें अछूत या अपवित्र नहीं माना जाता।

यहाँ के राजा भारतीय राज दरबारों की शान-शौकत तथा चमक-दमक का अनुसरण करते थे। जावा में पान खाने की आदत भी भारत की तरह थी। यहाँ के पुतली नाचों के विषय दो महान भारतीय ग्रन्थ—रामायण तथा महाभारत से लिए जाते हैं। इन द्वीपों में प्रचलित कविता, नाटक, संगीत तथा नृत्य को अंतःप्रेरणा निःसंदेह भारत से प्राप्त हुई है।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २३५

हिंद जावानी कला, भवन एवं मंदिर निर्माण-दोनों ही दृष्टि से अनुपम है। मंदिरों में जो धार्मिक चित्रण किया गया है, उनमें जो कलापूर्ण मूर्तियाँ पाई जाती हैं, वे विशेष रूप से मंदिर कला के सुंदर नमूने हैं। स्मारकों में से कुछ सुंदर नमूनों का परिचय इस प्रकार है।

जावा में धार्मिक इमारतों को 'चंदी' नाम से पुकारा जाता है। इनमें से कुछ को छोड़कर सब मंदिर हैं। इन मंदिरों का नक्शा मोटे रूप में करीब-करीब एक-सा ही होता है। मंदिरों की कला-पूर्ण सजावट, अलंकरण तथा नक्काशी आदि सब भारत से ली गई हैं।

जावा के मंदिरों की विशेषता यह है कि इनमें खंभे बिलकुल नहीं हैं और इनके मेहराब भारत की तरह क्षितिज के समानांतर हैं। मध्य जावा में जहाँ ८वीं शताब्दी ई० के बीच मंदिरों का निर्माण हुआ, उनमें ब्राह्मण और बौद्ध दोनों धर्मों के मंदिर हैं। 'डींग पठार पर, जो कि ६५०० फीट ऊँचा है और चारों तरफ पर्वतों से घिरा है, बहुत से मंदिर हैं, जो महाभारत के वीरों और वीरांगनाओं के नाम पर बने हुए हैं। सामान्यतः यह माना जाता है कि ये मंदिर जावा में सब से प्राचीन हैं और संभवतः ८वीं शताब्दी ई० के हैं। डींग कला को देखने से गुप्तकाल के भारतीय मंदिरों का स्मरण हो आता है।'

डींग पठार पर प्राप्त मूर्तियाँ ब्राह्मण धर्म के देवी-देवताओं की हैं। यहाँ शिव, दुर्गा, गणेश, ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियाँ हैं। इस तरह ये मंदिर ब्राह्मण धर्म के थे, जिनमें शैव मत की प्रमुखता थी। इस तथ्य की पुष्टि उपलब्ध अवशेषों से होती है।

'प्रमबनन' घाटी में प्रसिद्ध बौद्ध मंदिरों का समूह मौजूद है, जो कि मध्य जावा की कला का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करता है। यह क्षेत्र आधुनिक 'जोगमकेर्ता' और 'सूरकेर्ता' जिलों की सीमा पर स्थित है। इस क्षेत्र में प्रसिद्ध मंदिर 'चंदी कलसन' और 'चंदीसर्ग'

और चंदीसेम हैं। चंदीसेम बरबुदर को छोड़कर सबसे बड़ा बौद्ध मंदिर है। मुख्य मंदिर जो कि आँगन के बीच में है, ४० मंदिरों से चारों ओर से घिरा हुआ है। यहाँ कुल मिलाकर २५० मंदिर हैं, जिनमें से मुख्य मंदिर भी शामिल हैं। ये मंदिर संभवतः ९वीं शताब्दी के बने हैं।

केड मैदान में कुछ बहुत ही सुंदर कलापूर्ण सुंदर प्राचीन स्मारक हैं, जो ९वीं शताब्दी के हैं। ब्राह्मण एवं बौद्ध सुंदर मंदिरों के खंडहर यहाँ बड़ी संख्या में हैं। 'चंदी मैंदुर' एवं 'चंदी पवन' जो कि बहुत कुछ सुरक्षित रूप में कायम हैं 'हिंद-जावानी' कला का बहुत सुंदर नमूना प्रस्तुत करते हैं। परंतु इन सबों का महत्त्व विश्व विख्यात बौद्ध मंदिर 'बरबुदर' के सामने धूमिल हो गया है, क्योंकि वह संपूर्ण दुनियाँ में एक बड़ा आश्चर्य माना जाता है। इसकी समता का मंदिर शायद कंबोडिया का 'अंगकोर बाट' के अतिरिक्त दूसरा दुनियाँ में नहीं है। 'बरबुदर' मंदिर का निर्माण ७५० और ८५० ई० के बीच में माना जाता है, जो कि शैलेंद्र राजाओं के संरक्षण में निर्मित हुआ था।

'बरबुदर' का मंदिर एक पहाड़ी की चोटी पर बना है। यह हिंद-जावानी कला का सर्वोच्च स्मारक है। इस विशाल मंदिर की दीवारों पर उभरी आकृतियों की नक्काशी द्वारा गौतम बुद्ध, जातक, अवदानों एवं सुधन कुमार की कथाएँ चित्रित की गई हैं। 'बरबुदर' में बुद्ध की तथा 'मैंदुर' में बोधिसत्त्वों की प्रतिमाएँ हिंद-जावानी कला की सर्वोपरि कृतियाँ हैं।

जावा के ब्राह्मण-धर्म के मंदिरों में से कोई भी 'बरबुदर' की तुलना में किङ्गचत नहीं ठहर सकता, फिर भी 'प्रमबनन' धाटी में स्थित 'लरजोंगरंग' समूह के मंदिर उसके बाद सर्वश्रेष्ठ माने जा सकते हैं। इसमें ८ मुख्य मंदिर हैं, पर कुल मंदिरों की संख्या १५६ है। पश्चिम कतार में स्थित ३ मुख्य मंदिरों के बीच का मंदिर सबसे बड़ा और सबसे अधिक प्रसिद्ध है, जिसमें शिव की मूर्ति है। इसके

उत्तर में विष्णु तथा दक्षिण में ब्रह्मा की मूर्तियाँ हैं। बीच का शिव मंदिर सबसे अधिक सुंदर है। इसकी दीवालों पर रामायण की कथा प्रारंभ से लेकर लंका यात्रा तक चित्रित है। ‘लर जोगरंग’ मंदिरों की कला की सबसे बड़ी विशेषता एवं सुंदरता उनकी उभरी आकृति की नक्काशी है, जो कि ‘बरबुदुर’ के बौद्ध मंदिर की कला से किसी भी रूप में कम नहीं है।

‘चंदी मैंदुर’ की बुद्ध तथा अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ बहुत ही सुंदर ढंग से गढ़ी गई हैं, जो कि मध्य जावा की प्राचीन कला की शैली के अनुरूप हैं। ‘चंदी बनेन’ की मूर्तियाँ यद्यपि ब्राह्मण धर्म की हैं, फिर भी वे बरबुदर की कला से मिलती हैं, न कि ‘लरजोगरंग’ से।

पूर्वी जावा में ‘चंदी किदल’ का स्मारक है, जो कि राजा अनुशपति का समाधि मंदिर है। सिंधसारी के उत्तर-पश्चिम में ‘सिंधसारी’ का मीनार मंदिर है। इस काल का बहुत महत्वपूर्ण स्मारक ‘चंदी जगो है। यह राजा ‘विष्णु वर्धन’ का शासन मंदिर है, जिसमें इसे बौद्ध देवता के रूप में चित्रित किया गया है। यह सन् १२६८ ई० के कुछ पहले या बाद का मंदिर है।

पूर्वी जावा का सबसे बड़ा और सबसे अधिक प्रसिद्ध स्मारक ‘पनतरन’ (प्राचीन नाम पलह) के मंदिर समूह हैं। संभवतः यह १४वीं शताब्दी और मध्यकाल का मंदिर समूह है। इनकी दीवालों पर भी रामायण और कृष्णायन की उभरी आकृति की नक्काशी चित्रित है। पूर्वी जावा में स्थित ‘पनतरन’ एवं मध्य जावा के ‘लर जोगरंग’ के मंदिरों में जो उभरी आकृति की नक्काशी द्वारा रामायण को चित्रित किया गया है उनकी तुलना करने से बड़ा अंतर जान पड़ता है। मध्य जावा की मंदिर कला से पूर्वी जावा की कला निश्चित रूप से घटिया है।

पूर्व जावा की सभी मूर्तियों में ‘सिंधसारी’ की प्रज्ञा पारमिता, की मूर्ति सबसे अधिक सुंदर है जो पूर्वी जावानी मंदिर कला का

उत्कृष्ट नमूना है। देवताओं की साधारण मूर्तियों के अतिरिक्त उनकी ऐसी भी विशिष्ट मूर्तियाँ बनाई गई हैं कि जीवित व्यक्तियों के चित्रों के समान ही दिखाई देती हैं।

स्वर्णद्वीप की निर्माण-कला भारतीय निर्माण-कला के अनुरूप ही धर्म की पूरक मानी जा सकती है। वहाँ पर जितने भी स्मारक अभी तक प्राप्त हुए हैं, वे सब धार्मिक स्वरूप के हैं प्राचीन काल में मलय प्रायद्वीप तथा पूर्वी द्वीप समूह में जो बहुत मंदिर बने थे, वे सब अब प्रायः खंडहर हो चुके हैं।

जावा, सुमात्रा, बाली, और बोर्निया इन बड़े द्वीपों के अतिरिक्त इंडोनेशिया द्वीप समूह के दो और छोटे किंतु महत्वपूर्ण द्वीप हैं—सेलेबीज और फिलीपाइन। इनमें भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण स्मारक मौजूद हैं। फिलीपाइन का सुंदर शिव-मंदिर और सेलेबीज की बुद्ध प्रतिमा तो देखते ही बनती है। सेलेबीज की कर्म नदी तट पर बसे सिकेंदेंग स्थान के समीप एक विशाल बुद्ध प्रतिमा मिली है, जो वहाँ के म्यूजियम में रखी गई। यह पीतल की बनी संसार भर की बुद्ध प्रतिमाओं में सर्वश्रेष्ठ और भव्य है। परिधान वस्त्र की सलवटें इतनी स्पष्ट है कि तत्कालीन धातु कला की उन्नति पर आश्चर्य होता है। कला विशेषज्ञ इसे लंका में विनिर्मित मानते हैं। ऐसी ही अन्य उपलब्धियाँ उस देश में भारतीय धर्म की पहुँच का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

सातवीं शताब्दी के आरंभ में एक बहुत ही प्रतिभाशाली भारतीय वंश का उद्भव हुआ। उसका नाम था—शैलेंद्र। इस वंश ने अपनी महत्वाकांक्षाएँ सुदूर पूर्व के द्वीप समूहों की ओर मोड़ी और उस क्षेत्र में बिखरी हुई अस्त-व्यस्त शासन-व्यवस्था को एक छत्र चक्रवर्ती तंत्र के नीचे लाने का निश्चय किया। कहना न होगा कि यह वंश प्रतापी, शूरवीर, सशक्त और हर दृष्टि से क्रिया कुशल था। ये लोग सशक्त जल सेना लेकर कलिंग से रवाना हुए। उन्होंने देखते ही देखते बर्मा जीत लिया। इसके बाद आँधी-तूफान की

तरह मलाया प्रायःद्वीप-सुमात्रा जावा आदि जीतते चले गए। इन देशों में से अधिकांश में हिंदू राजाओं का राज था और कहीं-कहीं पर स्थानीय लोगों का शासन था। पर शैलेंद्रों को एकछत्र शासन अभीष्ट था। इसलिए उन्होंने इस क्षेत्र में एक शासन की स्थापना की और समस्त विजित क्षेत्र का नाम कलिंग रखा, सारे क्षेत्र में एक लिपि, एक भाषा चलाई, इसमें संस्कृत शब्दों के साथ-साथ स्थानीय शब्दों का भी समावेश था। इस पूर्व क्षेत्र की नागरी का संक्षिप्त नाम ‘पूर्व नागरी’ रखा। एक संस्कृति-एक भाषा-एक शासन का यह प्रयास शैलेंद्रों ने जिस उत्साह से चलाया, उसे देखते हुए उन दिनों यह प्रतीत होने लगा था कि यह सारा क्षेत्र भारत प्रदत्त एकता के एक सूत्र में बँधने ही वाला है। शैलेंद्र बौद्ध धर्मानुयायी थे, पर उन्होंने उसे छङ्गदू धर्म का ही एक अंग मात्र माना और उसका सुधरा हुआ रूप समझा। उन्होंने तत्कालीन छङ्गदू धर्म प्रधान जनता में कोई मतिभ्रम पैदा नहीं किया। बौद्ध और हिंदू अभिन्न रूप से एक ही हैं, यही सिद्ध किया।

शैलेंद्रों की समृद्धि, शक्ति और कुशलता की अरब इतिहासकारों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सुलेमान, इब्न रो तेह, अबू जैद हसन, मसूरी, अलबरूनी आदि ने अपने संस्मरणों में जो कुछ लिखा है, यदि वह सही हो तो यही मानना पड़ेगा कि शैलेंद्र वंशीय नैपोलियन और सिकंदर जैसी शक्ति बनकर उभरे थे। उन्हें बड़े परिमाण में सफलता भी मिली। उन्होंने न केवल शासनतंत्र सुधारा वरन् सुदूर क्षेत्र को भारत के साथ व्यापक एवं समृद्धि के सूत्रों में भी बाँधा।

दुर्भाग्य से भारत में उन दिनों विशेष रूप से पाई जाने वाली फूट महा व्याधिने वहाँ भी आ घेरा। सुदूर पूर्व में चोल, चालुक्य, पांड्य वंशीय हिंदू राजा राज करते थे। उनने शैलेंद्रों को सहयोग देने की अपेक्षा विग्रह की नीति अपनाई। फलस्वरूप एक प्रकार से गृहयुद्ध आरंभ हो गया और छोटे-बड़े युद्ध जहाँ-तहाँ उभरने लगे और वे लगभग एक सौ वर्षों तक चले।

फलतः दोनों ही पक्ष निर्बल होते चले गए। जहाँ पुरातन राजतंत्रों को भारी क्षति पहुँची वहाँ शैलेंद्र भी शक्ति हीन होते चले गए। चीनी इतिहास 'मिंग कालीन वर्णन' से पता चलता है कि उस क्षेत्र पर चीनी सरदारों की ललचाई हुई नजर पड़ी और उन्होंने जावा आदि किंतने ही क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया। जिन शैलेंद्रों ने 'बरबुदूर' और 'कलस्सन' जैसे प्रख्यात मंदिरों का निर्माण किया था, जो सात सौ वर्ष तक उस क्षेत्र का नेतृत्व करते रहे, उनका पंद्रहवीं सदी आते-आते पूरी तरह अंत हो गया। छुटपुट और कमजोर सरदारियाँ ही जहाँ-तहाँ राज कर रही थीं। अव्यवस्था और असुरक्षा का जगह-जगह बोलबाला था।

शैलेंद्रों के अवसान के उपरांत उस क्षेत्र में एक नया राज्य उभरा 'मलवक्का' उस पर परमेश्वर नाम का राजा राज्य करता था। उसके लड़के ने मुसलमान युवती से विवाह करके इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया और अपना नाम बदल कर 'सिंकदर शाह' रख लिया। कहते हैं कि मुसलमान पत्नी करने के अपराध में हिंदू समाज ने उसे बहिष्कृत कर दिया। इससे मुसलमान बन जाने के अतिरिक्त उसे और कोई चारा न रहा। प्रतिशोध की भावना से उसने कट्टर पंथी हिंदू राजाओं पर कड़े आक्रमण किए और सुमात्रा, पहंग, इंद्रगिरि आदि को जीत कर मलवका नामक इस्लामी राज्य बनाया। इसमें स्याम का भी कुछ भाग जीतकर मिला लिया गया था। सन् १५११ तक इस वंश ने राज्य किया। सिंकदर शाह के बाद उनके वंशज मुजफ्फरशाह, मंसूर शाह, अलाउद्दीन, सुल्तान अहमद ने राज्य किया। इस अवधि में इन लोगों ने इस्लाम धर्म को उस क्षेत्र में फैलाने का भरपूर प्रयत्न किया और उसमें आशातीत सफलता भी पाई। अरब देशों के व्यापारी उस क्षेत्र में आरंभ से, बहुत दिन पहले से ही बसने लगे थे। उन्होंने धर्म प्रचार और धर्म परिवर्तन में मलवका नरेशों को पूरा सहयोग दिया। फलतः शासन तंत्र इस्लाम धर्मानुयायियों के हाथ चला गया और जनता को भी

उसी राह पर चलने के लिए बाध्य होना पड़ा। गुजरात और ईरान से मुसलमान व्यापारी उस क्षेत्र में भारी संख्या में पहुँचे और मलवक्का सुल्तान के अनुग्रह से धन कमाने तथा धर्म विस्तार के लिए हर संभव उपाय करने में लगे रहे। उस बीच हिंदू शासकों की, हिंदू सभ्यता की दयनीय दुर्दशा होती चली गई। विशालकाय धर्म केंद्र धूलधूसरित होते और खंडहर बनते चले गए। पंद्रहवीं सदी में प्रवेश हुआ इस्लाम धर्म इस क्षेत्र में ३०० वर्षों की अवधि में परिपृष्ठ हो गया और अठारहवीं सदी में सुदूर पूर्व के समस्त क्षेत्र में उसका वर्चस्व छा गया।

सन् १५११ में पुर्तगालियों ने मलवक्का पर आक्रमण किया। इसके बाद डच, फ्रांसीसी, अंग्रेज भी उस क्षेत्र में प्रवेश करते चले गए। इन लोगों का आर्थिक एवं राजनीतिक वर्चस्व उस क्षेत्र पर बढ़ने लगा जिसका अंत द्वितीय महायुद्ध के बाद ही हुआ। अब सुदूर पूर्व के प्रायः सभी देश स्वतंत्र हैं। उनमें इस्लाम धर्मानुयायियों की संख्या अधिक है। इसके बाद बौद्धों का नंबर आता है। हिंदू धर्म तो नाम मात्र को ही शेष है।

स्वर्णद्वीप समूह तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र के कुछ विशिष्ट देशों तथा क्षेत्रों पर अगले पृष्ठों में थोड़ा अधिक प्रकाश डाला जा रहा है जिससे पाठकों को अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सके।



भारतीय धर्मानुयायी जावा

स्वर्णद्वीप समूह की स्थिति का सिंहावलोकन पिछले पृष्ठों पर प्रस्तुत किया गया है। स्वभावतः उस क्षेत्र की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता हमें होगी। अस्तु, उस क्षेत्र में बिखरे देशों के संबंध में कुछ और भी विशेष विवरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

‘इंटरनेशनल ज्योग्राफी’ ग्रंथ के लेखक एच० एल० मिल ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि जावा निवासी रक्त की दृष्टि से भारतीयों के वंशज हैं। उनकी धार्मिक मान्यताएँ, ब्राह्मण धर्म से प्रभावित हैं, जावा की भाषा पर संस्कृत का स्पष्ट प्रभाव है।

इतिहासकार टालेमी के अनुसार दूसरी शताब्दी में भारत और जावा के अत्यंत घनिष्ठ संबंध थे। उस क्षेत्र में प्रचलित एक जनश्रुति के अनुसार प्रथम शताब्दी में सौराष्ट्र का अजिशक योद्धा जावा पहुँचा था और उसने वहाँ सुविस्तृत शासन तंत्र की स्थापना की थी। पीछे कलिंग और गुर्जर देश के निवासी वहाँ पहुँचते रहे। जावा की वर्तमान राजधानी ‘बटाविया’ है। उसके समीपवर्ती क्षेत्र में ‘चिरु अतन’, ‘जंबू’, ‘कवोन’, ‘कोपि’, ‘तगु’ आदि स्थानों में जो शिलालेख मिले हैं, उनमें कितने ही हिंदू प्रचलनों की चर्चा के साथ-साथ राजा ‘पूर्ण वर्मा’ के २२ वर्षीय शासन के क्रियाकलापों का भी वर्णन है।

जावा की लंबाई ६१२ मील है और चौड़ाई ५१ से लेकर १३१ मील तक है। इन दिनों जो छोटे द्वीप जावा में गिने जाते हैं उन सब को सम्मिलित करने पर उसका क्षेत्रफल ५१००० वर्गमील हो जाता

है। इसमें ४ हजार से लेकर १२ हजार फीट तक की ऊँचाई वाले पहाड़ भी हैं। उनमें कई ज्वालामुखी भी पाए जाते हैं। कृषि के लिए यहाँ की भूमि बहुत ही उत्तम और उपजाऊ है।

जावा में प्रचलित एक परंपरा के अनुसार वहाँ पर हिंदू राज्य सन् ५६ ई० में स्थापित हुआ था। टालेमी ने दूसरी शताब्दी में इसका उल्लेख 'जावादिआन' नाम से किया है, जिससे यह मालूम होता है कि इस द्वीप का भारतीय नाम दूसरी शताब्दी से भी बहुत पहले का है, पर किसी हालत में दूसरी शताब्दी ई० के शुरू में जावा एक हिंदू उपनिवेश के रूप में कायम हो चुका था, क्योंकि सन् १३२ में वहाँ के राजा देव वर्मन ने अपना एक राज्यदूत चीन भेजा था। पश्चिमी जावा में हिंदू राज्य की स्थापना के संबंध में अधिक जानकारी हमें 'पूर्ण वर्मन' के चार शिलालेखों से प्राप्त होती है। उसके पूर्व उसके पिता 'राजाधिराज' एवं पितामह 'राजर्षि' राज्य करते थे। उक्त शिलालेख ५वीं शताब्दी के माने जा सकते हैं। मध्य जावा में भी एक हिंदू राज्य कायम था, जिसे चीनी लोग 'होलिंग' (कलिंग) कहते थे। इस क्षेत्र में भारतीय प्रांत कलिंग (वर्तमान उत्कल) के निवासियों का प्रभुत्व था। जावा में एक दूसरा हिंदू राज्य भी कायम था जिसका चीनी नाम 'हो-लो-तान' था। इस राज्य ने एक दूत को सन् ४३० से ४५२ के बीच चीन को भेजा था।

जावा में भारतीय साहित्य प्राचीन काल में प्रचलित था। इस साहित्य के फलस्वरूप हिंद-जावानी साहित्य का उदय हुआ, जो कि उस द्वीप में हिंदू-उपनिवेशीकरण की एक प्रमुख विशिष्टता थी। भारत के बाहर किसी भी देश में भारतीय साहित्य का अध्ययन इस रूप में नहीं किया गया, जैसा कि इस देश में। इसके फलस्वरूप इतना अधिक लाभ इसके अध्ययनकर्ताओं को हुआ और उसके बहुत अधिक परिणाम निकले।

जावा में हिंदू उपनिवेशों के प्रथम काल में पूर्णवर्मन के शिलालेख से स्पष्ट है कि इस काल में संस्कृत भाषा और साहित्य

का ज्ञान यहाँ के लोगों को था। द्वितीय काल में उक्त ज्ञान का पहले से कहीं अधिक गहन और व्यापक रूप में प्रसार हुआ। यह न केवल शिलालेखों से प्रमाणित होता है वरन् उस काल में विनिर्मित स्मारकों से भी सिद्ध होता है।

ये स्मारक दोनों ब्राह्मणों और बौद्ध धर्मों के हैं। इन स्मारक-मंदिरों में जिन मूर्तियों की नक्काशी की गई हैं, वे अधिकांश में इन भारतीय ग्रंथों के वर्णनों से ही संबंधित हैं। इस काल में हिंदू-जावानी साहित्य के तीन ग्रंथों की रचना हुई।

हिंदू उपनिवेशीकरण के तृतीय काल खंड सन् १००० से १५०० के भीतर हिंद-जावानी साहित्य ने पूर्वी जावा में कदिर या डह, सिंहश्री और मजहपित के राजाओं की संरक्षता में उल्लेखनीय प्रगति और उन्नति की। मजहपित में मुस्लिम शासन कायम होने के बाद जावा के लोग बड़ी संख्या में वाली चले गए और वहाँ उन्होंने साहित्यिक कार्य जारी रखा।

प्राचीन जावानी-साहित्य में कविता रचना एवं संस्कृत पद्य रचना के नियमों का पालन किया गया है और इन कविताओं का मुख्य विषय भारतीय सहित्य से लिया गया है। इसमें संस्कृत शब्दों और श्लोकों का बहुत उपयोग किया गया है। इस काल का सबसे प्राचीन 'संस्कृत ग्रंथ-अमर माला' का पुरानी जावानी भाषा में लिखा संस्करण है।

इसी काल का प्राचीन जावानी भाषा में लिखा 'रामायण' ग्रंथ है। यह हिंद-जावानी साहित्य की सबसे सुंदर एवं प्रसिद्ध रचना है। यह संस्कृत में लिखी रामायण का अनुवाद नहीं, वरन् स्वतंत्र रचना है। इसका प्रतिपाद्य विषय संस्कृत की मूल रामायण से बिलकुल मिलता है, पर इसमें अग्नि परीक्षा के बाद सीता और राम का मिलन बताया गया है।

जावा का दूसरा महत्वपूर्ण प्रसिद्ध भारतीय ग्रंथ महाभारत का गद्य अनुवाद है, जिसकी रचना राजा धर्मवंश के समय में हुई।

सन् १९६ में 'विराट पर्व' का अनुवाद किया गया। महाभारत का अनुवाद जावानी भाषा में होने से यह उस देश में लोकप्रिय हो गया। इस महान ग्रंथ ने अन्य कई साहित्यिक रचनाओं को विषय सामग्री प्रदान की। ऐसी रचनाओं में प्रथम है 'अर्जुन विवाह' जिसकी रचना 'मधुकन्व' ने राजा 'औरलंग' की संरक्षता में की थी। इसका विषय महाभारत से लिया गया है जिसमें 'निमात कवच' के विरुद्ध युद्ध में अर्जुन देवताओं की मदद करता है।

किदिरकाल के शुरू की दो पद्य रचनाएँ 'कृष्णायन' और 'सुमन सानक' हैं। 'कृष्णायन' में रुक्मिणि हरण की कथा है, जबकि 'सुमन सानक' में अज की रानी इंदुमति की मृत्यु संबंधी कथा है।

राजा-जयभय के राज्यकाल (सन् ११३५-११५७) में प्राचीन जावानी साहित्य की बहुत उन्नति हुई। इस काल का सबसे महत्वपूर्ण, सबसे प्रसिद्ध एवं बड़ा ग्रंथ 'भारत युद्ध' है जो कि मूल संस्कृत 'महाभारत' के उद्योग पर्व, भीष्म एवं द्रोण पर्व, कर्ण पर्व एवं शल्य पर्व पर आधारित स्वतंत्र रचना है। इसके मूल रचियता 'मपूसेदाह' थे, पर इनके अपूर्ण कार्य की पूर्ति 'मपूपनुलुह' ने की थी। 'मपूपनुलुह' ने एक दूसरे पद्य का ग्रंथ 'हरिवंश' की भी रचना इसी राज्यकाल में की थी। इस ग्रंथ का विषय 'कृष्ण-जरासंध युद्ध' है।

राजा कामेश्वर द्वितीय (११८५ ई०) के संरक्षण में अत्यंत प्रसिद्ध ग्रंथ 'स्मर दहन' की रचना की गई। इस ग्रंथ का विषय कालिदास के कुमार संभव पर आधारित है। राजा कामेश्वर द्वितीय के राज्यकाल में ही दूसरे प्रसिद्ध ग्रंथ 'भोम काव्य' की रचना हुई। इसमें प्रतिपाद्य विषय राजा पृथ्वी के पुत्र 'भोम द्वारा इंद्र तथा अन्य देवताओं को परास्त करना है।'

'प्रपञ्च' द्वारा सन् १३६५ में मजपहित के समृद्ध राज्यकाल में एक अनुपम पद्य ग्रंथ 'नागर क्रिरागम' की रचना की गई। अभी

तक जिन पद्य ग्रंथों का उल्लेख किया गया है उनका प्रतिपाद्य विषय अधिकतर भारतीय महान ग्रंथ 'रामायण' 'महाभारत' और पुराणों से लिया गया था।

इनके अतिरिक्त एक अन्य जावानी ग्रंथ 'नीति-शास्त्र-कविन' है जिसे अब बाली में 'नीतिसार कहा जाता है। इसके बहुत से जावानी श्लोक भारतीय मूल ग्रंथ में मिलते हैं। इसके नीति वचन संस्कृत के नीतिसार, पंचतंत्र, चाणक्य शतक के विषयों से मिलते हैं। अन्य ग्रंथों में 'सूर्य सेवन' 'गारुडेय मंत्र' इत्यादि हैं, जो कि धार्मिक तथा सैद्धांतिक हैं। एक अन्य ग्रंथ 'कोर आश्रम' है, जिसमें महाभारत के प्रतिपाद्य विषय में काफी परिवर्तन किया गया है। इसी कोटि का दूसरा ग्रंथ 'सार समुच्चय' है जो कि महाभारत के अनुशासन धर्म के नीति उपदेशों का प्राचीन जावानी भाषा में अनुवाद है। इसमें महाभारत तथा अन्य भारतीय ग्रंथ जैसे पंचतंत्र इत्यादि के संस्कृत पद्यों को उद्धृत किया गया है। लोक कथाओं पर 'तंत्री' नाम का ग्रंथ है, जो कि 'हितोपदेश' एवं 'पंच तंत्र' पर आधारित है, यद्यपि उसमें कई नई कहानियाँ भी हैं। इस वर्ग की रचनाएँ न केवल जावानी भाषा में वरन् बाली, स्यामी, लाओसियन भाषाओं में भी हैं। 'किंदुंग' वर्ग की रचनाएँ रामायण महाभारत तथा पुराणों की कथाओं पर आधारित हैं। 'संग सत्यवन' प्रसिद्ध सावित्री प्रसंग पर जावानी भाषा का पद्य ग्रंथ है।

भारत के दो धर्मो-ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म का प्रचार स्वर्णद्वीप में हुआ था और हिंदू उपनिवेशीकरण के प्रारंभिक काल में ही इन दोनों धर्मों ने अपनी जड़ें वहाँ की भूमि में जमाली थीं। जैसे-जैसे शताब्दियाँ बीतती गईं, भारतीय धर्मों ने अपने पूर्ण प्रभाव की विजय-पताका स्वर्णभूमि में फैला दी। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि वे भारतीय उपनिवेश श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास एवं धार्मिक क्रियाओं की दृष्टि से अपनी मातृभूमि भारत की प्रायः पूर्ण प्रतिलिपि थे।

आठवीं शताब्दी के आरंभिक काल में ब्राह्मण धर्म का पौराणिक स्वरूप जावा में दृढ़ता के साथ जम चुका था। इसके अनुसार त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव, उनकी दिव्य शक्तियों तथा उनसे संबंधित अनेक देवी-देवताओं की पूजा का विधान है, जो कि जावा के साहित्य, शिलालेखों तथा मंदिर-स्मारकों के अध्ययन से स्पष्ट रूप में प्रकट हैं। गणेश की मूर्ति जावा में बहुत प्रचलित थी, जो कि शिव-पार्वती के पुत्र हैं। युद्ध देवता-कार्तिकेय भी, जो शिव-पार्वती के पुत्र हैं, जावा में प्रसिद्ध थे। शिव की पूजा लिंग के रूप में भी की जाती थी। कुछ राजाओं के राज्यकाल में विष्णु की पूजा को बहुत ऊँची प्रतिष्ठा एवं सम्मान प्राप्त था। उनकी शक्ति 'श्री या लक्ष्मी' को चार भुजावाली, कमल, अन्न वाली एवं माला हाथों में लिए हुए दर्शाया गया था। विष्णु के बहुत से अवतारों, विशेषकर कृष्ण, राम, मत्स्य, वाराह एवं नृसिंह को मूर्तियों के रूप में दर्शाया गया था। ब्रह्मा की मूर्तियाँ अपेक्षाकृत कम संख्या में थी। ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की एक साथ सम्मिलित त्रिमूर्ति जावा में प्राप्त है। जावा में 'मतारा गुरु' की मूर्ति बहुत लोकप्रिय है। इसको 'शिव महायोगिन' का ही प्रतिरूप माना जाता है। जावा में अगस्त्य की पूजा का भी बहुत प्रचलन था, जोकि शिलालेखों से ज्ञात होता है।

इन प्रमुख देवों तथा देवियों के अतिरिक्त अन्य छोटे देवों की मूर्तियाँ भी जावा में उपलब्ध हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिंदुओं के प्रायः सभी देवताओं की मूर्तियाँ जावा में मिलती हैं। इस संबंध में 'क्राफर्ड' का निम्नलिखित विवरण जो एक शताब्दी पूर्व लिखा गया था, किसी प्रकार अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता—“पीतल तथा पाषाण की इतने विभिन्न प्रकार की असली हिंदू मूर्तियाँ जावा में उपलब्ध हैं कि मेरा ख्याल है कि हिंदू पौराणिक ग्रंथों के उन सभी देवी-देवताओं की मूर्तियाँ जावा में मौजूद हैं, जिनकी मूर्तियाँ बनना उपयुक्त है।”

जावा में भारतीय ग्रंथों पर आधारित धार्मिक साहित्य प्रचुर रूप में उपलब्ध है। उससे प्रकट होता है कि किस तरह पौराणिक हिंदू-धर्म के अध्यात्म ज्ञान, पौराणिक कथाओं, धार्मिक मान्यताओं एवं दर्शन ने जावा में अपना पूर्ण प्रभाव जमा लिया था।

सातवीं शताब्दी के अंतिम काल में बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा संपूर्ण स्वर्णद्वीप में प्रचलित थी। परंतु आठवीं शताब्दी में जावा एवं सुमात्रा में शैलेंद्र राजवंश के समय हीनयान के स्थान पर महायान शाखा का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसी काल में 'बर बुदुर' व अन्य भव्य मंदिरों का निर्माण हुआ। जावा और सुमात्रा में महायान शाखा जनता का बहुत ही लोकप्रिय धर्म बन गई थी। स्वर्ण द्वीप में उन दिनों बौद्ध धर्म का एक सुदृढ़ केंद्र स्थापित हो गया था।

बौद्धधर्म के अंतरराष्ट्रीय स्वरूप ने स्वर्णद्वीप को प्रतिष्ठा तथा महत्व का दर्जा प्रदान किया था और उसे भारत तथा अन्य बौद्ध देशों से निकट संबंध में जोड़ा था। बंगाल के बौद्ध प्रचारकों का जावा के बौद्धों पर गहरा प्रभाव था। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि बंगाल के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् 'अतिश दीपंकर' (११वीं शताब्दी ई०) और कांची के बौद्ध विद्वान् 'धर्मपाल' (७वीं शताब्दी ई०) जो कि नालंदा में आचार्य थे, बौद्ध साहित्य के अध्ययन के लिए स्वर्णद्वीप गए थे। जावा में बौद्ध साहित्य के अध्ययन के सबूत में न केवल महत्वपूर्ण बौद्ध ग्रंथों की प्राप्ति है वरन् 'बर बुदुर' और दूसरे धार्मिक स्मारकों की मंदिर निर्माण प्रणाली भी है, जिससे यह प्रकट होता है कि बौद्ध धर्म के सभी अंगों का विशेष ज्ञान वहाँ के बौद्धों को था। भारत में महायान बौद्ध धर्म को बाद में जो स्वरूप प्राप्त हुआ, वह जावा में भी प्रचलित हो गया था।

शिव और बुद्ध का निकटतम पारस्परिक संबंध जावानी धर्म की विशिष्टता थी। 'कुंजर कर्ण' तथा 'सूतसोम' ग्रंथों में दोनों देवों को एक ही देव के रूप में चित्रित किया गया है। आधुनिक बाली धर्म में यह विश्वास किया जाता है कि बुद्ध शिव के अनुज हैं। दोनों

धर्मों के सिद्धांतों में घनिष्ठ संबंध कायम है। इस प्रकार जावा में 'शिव-बुद्धवाद' प्रचलित था। इसके अतिरिक्त शिव-विष्णु तथा बुद्ध तीनों का भी एक अखंड रूप माना जाता था। इसी प्रकार उनकी शक्तियों को भी एक ही शक्ति की अभिव्यक्ति माना जाता था।

ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि जावा में ईसा की प्रथम शताब्दी में भारत का कलिंग नामक व्यक्ति दल-बल सहित स्वर्ग द्वीप में पहुँचा था। उसने व्यापार के साथ स्थानीय लोगों में घनिष्ठता बढ़ा कर धर्म का विस्तार किया था।

इंडोनेशिया की राजधानी जकार्ता वस्तुतः यज्ञ-कर्ता शब्द का अपभ्रंश है। जिन दिनों यहाँ भारतीय संस्कृति का प्राधान्य था, तब वहाँ यज्ञानुष्ठानों की भी धूम रही होगी। तदनुसार उस नगरी का नाम यज्ञ कर्ता-जकार्ता पड़ा होगा। इसी प्रकार अन्य प्रमुख नगरों का भी नामकरण हुआ है। जोग जकार्ता, प्रम्बनम्, चंडी कलाशन आदि नाम ऐसे ही हैं जिनमें भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का संकेत है।

ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म वहाँ पहुँचा। हीनयान और महायान शाखाओं का यहाँ प्रसार हुआ, पर हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म टकराए नहीं, उनने मिलजुलकर अपना कार्य जारी रखा।

जावा में जो शिलालेख मिले हैं, वे चौथी शताब्दी के हैं और उनमें वहाँ के पूर्ण वर्मा नरेश के राज्य का वर्णन है। चीन के प्राचीन अभिलेखों से स्पष्ट है कि सन् ५०२ में सुमात्रा पर गौतम नाम के राजा का शासन था। फाहियान के लेखानुसार सन् ४२० में काश्मीर के राजकुमार गुणवर्मन उस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार करने पहुँचे थे। उन्होंने जावा में बौद्ध धर्म का महाविद्यालय स्थापित किया था।

दो चीनी विद्वान इस क्षेत्र में विद्याध्ययन के लिए आए थे। उनने अपने विवरणों में इस क्षेत्र में प्रस्तुत सुंदर शिक्षा व्यवस्था का

वर्णन किया है। सन् ६६४ में हिन्दिंग जावा के जुआन भद्र विद्यालय में पढ़ने आया था और इत्सिंग ने सन् ६७१ में सुमात्रा के 'पालेग बंग नगर' के महाविद्यालय में संस्कृत भाषा पढ़ने के लिए प्रवेश किया था।

जावा में रामलीला अभिनय में भाग लेना बहुत ही गौरवास्पद माना जाता है। जोग जकार्ता के सुल्तान ने यह अधिकार अपने हाथ में रखा कि रामायण नृत्य-नाटकों में उसका ज्येष्ठ पुत्र सदा राम की भूमिका का अभिनय करे।

जेम्स फर्गुसन के अनुसार जावा में हिंदू लोगों का शासन ईसा की प्रथम शताब्दी में ही जम गया था। स्टुआर्ट एलाङ्गफस्टन ने लिखा है कि सुदूर पूर्व के द्वीपों में भारतीय लोगों के शक्तिशाली जत्थे आए और उन्होंने उस क्षेत्र में कितनी ही उत्साहपूर्वक हलचलें आरंभ कीं। जावा के इतिहासकारों ने देश के उन उत्थानकर्ताओं का नाम 'किलिंग' लिखा है, जिसे 'कलिंग' शब्द का अपभ्रंश ही कहना चाहिए। भारत के कलिंग देश के निवासी वहाँ ईसा से एक शताब्दी पूर्व पहुँचे थे। उन्होंने अपनी विजय के उपलक्ष्य में एक नया संवत्सर चलाया था जो कि ईस्वी सन् से ७५ वर्ष पुराना है। जे० एफ० स्कंडल को जावा के 'वेजी' स्थान में जो शिलालेख मिले थे उनमें कलिंग राज्य का स्पष्ट उल्लेख है।

यों जावा की अपनी भाषा जावानी भाषा है, पर प्राचीन धर्म ग्रंथ एवं शिलालेख जिस 'पवित्र भाषा' में लिखे मिलते हैं, वह संस्कृत की एक शाखा ही कही जा सकती है। रामायण और महाभारत की कथाओं से वहाँ का प्राचीन साहित्य भरा पड़ा है। उस देश के निवासियों का विश्वास है कि महाभारत जावा की भूमि पर ही हुआ था। उस देश में देवालयों के जो खंडहर पाए गए हैं, उनमें से कुछ के नाम चंदी (चंडी) शिव, चंदी विष्णु, चंदी बुद्ध, चंदी अर्जुन, चंदी भीम, चंदी घटोत्कच, चंदी सरस्वती, चंदी सूर्य हैं। जावा की भाषा में चंदी (चंडी) का अर्थ मंदिर होता है। वहाँ के

पर्वतों के नाम सुमेरु, अर्जुन, रावण और नदियों के नाम सरयू, वृंदा, प्रयाग भगवंता आदि यही बताते हैं कि ये भारतीय नामकरण हैं।

सन् १४७८ में जावा का राजा ब्रह्म विज्ञान था, मुसलमानों ने उसे मार डाला और उस देश पर कब्जा कर लिया। वे भी अधिक दिन पैर जमाए न रह सके। सन् १५५४ में पुर्तगालियों ने मुसलमानों को मार भगाया और स्वयं उसे हथिया लिया। इसके बाद डच लोगों का दाव लगा और वे जावा के शासक बन बैठे।

विद्वान एलाइस की 'ए मोनोग्राफी ऑन दी एलीफेंट गाड' में जावा में उपलब्ध गणेश प्रतिमाओं पर प्रकाश डालते हुए, उस देश के प्राचीन निवासियों को हिंदू धर्मानुयायी ही बताया है। इसके अतिरिक्त (१) दि रामायण एज स्कलप्चर्ड इन टिलीफस इन जावानीज टैम्पलस (२) दी लाइफ ऑफ बुद्धा ऑन दी स्तूफ ऑफ बोरो बुदुर (३) बोरोबुदुर आरकियोलॉजिकल डिस्क्रिप्शन ग्रंथों में जावा क्षेत्र में फैले हिंदू धर्म के प्राचीन कालीन विस्तार पर अच्छा प्रभाव डाला गया है। श्री हिमांशुभूषण के "इंडियन इंफ्लुएंस ऑन दि लिटरेचर ऑफ जावा एंड वालीज" में भी इसी प्रकार की बहुमूल्य जानकारियाँ उपलब्ध हैं।



सुमात्रा-'श्रीविजय' देश

सुमात्रा की लंबाई १०९० मील, चौड़ाई २४८ मील और क्षेत्रफल १,६७,४८० वर्गमील है। जनसंख्या ८० लाख, जावा की तुलना में वह कोई ४ गुना बड़ा है। पहाड़ी उतार-चढ़ाव और नयनभिराम हरियाली से आच्छादित यह देश भी बहुत सुंदर मालूम पड़ता है। समुद्री व्यापार में इस देश का बड़ा महत्व है। वहाँ का पुरातत्व विभाग यह बताता है कि सातवीं शताब्दी में संस्कृत वहाँ के शिक्षित वर्ग की मान्य भाषा रही है। कहते हैं कि भारतीयों का सर्वप्रथम प्रवेश इसी क्षेत्र में हुआ था।

क्षेत्रफल की दृष्टि में यह उस क्षेत्र के सब द्वीपों से बड़ा है। उसे लगभग भारत के मद्रास प्रांत के बराबर समझा जाना चाहिए। यह द्वीप (जावा) भरणी द्वीप (बोर्नियो) श्री शलभ द्वीप (सेलीवीस) मधुरा, बाली, लंबक, संभव आदि जिन द्वीपों का पुराणों में वर्णन आया है, वे सब सुमात्रा के ईर्द-गिर्द ही बिखरे पड़े हैं।

स्वर्णद्वीप समूह में प्रवेश करते हुए पहला बड़ा द्वीप सुमात्रा ही आता है। इसका प्राचीन भारतीय नाम 'श्रीविजय' है। बौद्ध सूत्रों में इसे जंबूद्वीप भी कहा गया है। उपलब्ध शिलालेख सिद्ध करते हैं कि सातवीं शताब्दी में वहाँ 'जय नाग' राजा राज्य करता था और वह बौद्ध था। चीनी सूत्रों के अनुसार सन् ७२४ में सुमात्रा पर श्रीचंद वर्मा का शासन था। उसका पुत्र चीनी सम्राट से भेंट करने के लिए गया था। तत्कालीन चीनी यात्री 'ईङ्गत्सग' के लिखे संस्मरणों से उस क्षेत्र पर हिंदू शासन की पुष्टि होती है।

'फ्लेमवंग' बुद्ध की एक पाषाण प्रतिमा अमरावती शिल्प-कला के आधार पर बनी प्रतीत होती है। इस तथ्य तथा उपरोक्त

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २५३

विवरण के आधार पर यह कहना गलत न होगा कि सुमात्रा हिंदू उपनिवेश ईसा सन् के प्रारंभिक काल में कायम हुआ था। सुमात्रा में सबसे पहला हिंदू राज्य 'श्रीविजय' (फ्लेमबंग) था। इसकी स्थापना चौथी शताब्दी या उसके पूर्व हुई थी। इसकी प्रसिद्धि सातवीं शताब्दी के अंतिम काल में बहुत बढ़ गई थी। सन् ९८४ में श्रीजयनाग इसके बौद्ध राजा थे। इस राजा की दी घोषणाएँ पत्थर पर खुदी हुई प्राप्त हुई हैं उनकी प्रतिलिपियाँ भारतीय पुरातत्त्व विभाग के पास उपलब्ध हैं।

ईतिसंग ने लिखा है कि दक्षिणी सागर के द्वीपों में 'श्रीविजय' बौद्ध शिक्षा एवं विद्या का केंद्र था और वहाँ के राजा के पास भारत और 'श्रीविजय' के बीच चलने वाले व्यापारी जहाज थे। मलाया प्रायद्वीप के 'लिगोर' क्षेत्र में प्राप्त शिलालेख (सन् ७७५) से प्रकट होता है कि श्रीविजय के बौद्ध राजा का प्रभाव मलाया के बंदोव खाड़ी तक ७७५ ई० से पूर्व हो गया था। चीनी इतिहास के अनुसार सुमात्रा के 'कान-तो-ली' के राजा 'बरनोण्ड' ने ४३४ और ४६४ ई० के बीच 'रुद्र' नामक एक राजदूत चीन भेजा था।

सुमात्रा पर लीडेन की 'दी आरकियालाजी ऑफ हिंदु सुमात्रा और स्टटेरिहम की ए जावानीज पीरियड इन सुमात्रन हिस्ट्री' में ऐसे प्रामाणिक वर्णन विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किए गए हैं, जो उस क्षेत्र पर भारतवर्ष के सांस्कृतिक आधिपत्य की भली प्रकार पुष्टि करते हैं। इतिहास विज्ञानी 'ऐलफिन्स्टन' के अनुसार भारतीय राजा 'सुमित्रा' ने उस देश में शासन व्यवस्था कायम की और उसी के नाम पर उसका नाम 'सुमात्रा' पड़ा।

उस देश में पाए जाने वाले प्राचीन खंडहरों में से अधिकांश शिव मंदिर हैं। कुछ बौद्ध मंदिर हैं, पर वे संख्या की दृष्टि से बहुत कम हैं। सुमात्रा में अभी भी राम, सीता, सुग्रीव, रुद्र, शिव, महादेव, महेश, भवानी, दुर्गा के मंदिर मौजूद हैं और उनकी यथावत पूजा

होती है। उन देशों में मुसलमानों की आबादी भी काफी है। पर उनके रीति-रिवाज हिंदुओं से मिलते-जुलते हैं।

सुमात्रा के पास ही बाली और लंबर द्वीप हैं, इनमें हिंदू धर्मानुयायी रहते हैं। ये शैव हैं। वर्ण व्यवस्था प्रचलित है। ॐकार जप, मूर्ति पूजा, शालिवाहन संवत्सर का प्रचलन तथा प्रथा-परंपराओं में भारतीय संस्कृति की छाप मौजूद है। ॐशिव चतुर्भुज का मंत्र-जप लोगों द्वारा बड़ी श्रद्धापूर्वक किया जाता है।



बोर्नियो में भारतीयता

जावा के समीप ही एक बड़ा द्वीप है-बोर्नियो। जावा की तुलना में उसका क्षेत्रफल प्रायः आठ गुना अधिक है, किंतु आबादी ५० लाख के लगभग ही है। इसमें 'महाकाम' नदी के तट पर कोती जिले में 'मुअर कमन' स्थान पर चार शिला लेख मिले हैं। वे चौथी शताब्दी के हैं। इनमें राजा मूलवर्मन द्वारा किए गए '७ बहु सुवर्णक यज्ञों की प्रशस्ति का वर्णन है। इसी क्षेत्र में एक सोने की विष्णु प्रतिमा मिली है। कोम्बेंग की विशाल गुफा में दो प्राचीन भवन मिले हैं जिनमें शिव, गणेश, स्कंद, महाकाल, ब्रह्मा, अगस्त्य आदि की पत्थर की बनी बारह प्रतिमाएँ पाई गई हैं। ये मूर्तियाँ विशुद्ध भारतीय शैली की हैं। इसी प्रकार सपड़क, संगद वतुपहल आदि में मिले लेखों से सिद्ध होता है कि चौथी शताब्दी में वहाँ हिंदू राजाओं का शासन था और प्रजा में हिंदू धर्म फैला था।

बोर्नियो में उपनिवेशीकरण के प्रमाण में संस्कृत के सात शिलालेख कोती जिले में राम मंदिर के खंभों पर खुदे मिले थे। ये खंभे यज्ञ-यूप के रूप में ब्राह्मणों ने स्थापित किए थे और इनमें राजा मूल वर्मन के यज्ञ की प्रशंसा की गई थी। ये शिलालेख सन् ४०० के हैं। इनसे प्रकट होता है कि उस समय बोर्नियो में ब्राह्मण धर्म का प्रभाव अच्छी तरह जम गया था। इसके अतिरिक्त कोटि जिले में 'कोटा बंगन' स्थान में गुप्त कला पर आधारित बुद्ध की काँसे की एक प्रतिमा मिली है। पूर्वी बोर्नियो के अन्य क्षेत्रों से भी प्राचीन हिंदू संस्कृति के अवशेष मिले हैं। पश्चिमी बोर्नियो की

‘कपुअस’ नदी की घाटी में हिंदू राज्यकाल के पुरातत्त्वीय अवशेष पाए गए हैं। इनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि इस क्षेत्र में एक समृद्धशाली हिंदू राज्य दीर्घकाल तक कायम रहा। बोर्नियो के विभिन्न क्षेत्रों में हिंदू लोग ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में बसे हुए थे। बोर्नियो, जिसे चीनी लोग ‘पो-नी’ नाम से जानते थे, वायु पुराण (अध्याय ४८) में वहर्ण द्वीप के नाम से वर्णित है।

बोर्नियो की गुफाओं में अब भी भारतीय अवशेष विद्यमान हैं। वहाँ अगस्त्य ऋषि की पूजा होती है।



आज का अनाम, प्राचीन काल का चंपा-हिंदू राज्य

सुदूर पूर्व के वर्तमान अनाम देश का प्राचीन नाम चंपा है। वोचिन्ह पहाड़ों पर उपलब्ध एक शिलालेख से स्पष्ट है कि उस देश पर सन् १९२ में श्रीमान नामक हिंदू राजा का राज्य था। इसके बाद सन् ३८० में धर्मराज भद्रवर्मा के शासन के प्रमाण मिलते हैं। इसका पुत्र गंगराज था, जो वैरागी हो गया। इस अव्यवस्था से चीनियों ने लाभ उठाया। उनने आक्रमण करके भारीकूट खयेट पर कब्जा जमाया, किंतु यह स्थिति देर तक न रही, आक्रमणकारी खदेड़ दिए गए। ५२९ में रुद्र वर्मा शासनारूढ़ हुआ। इसके बाद शंभु वर्मा, प्रकाश वर्मा, विक्रांत वर्मा का राज्य वर्णन मिलता है। इस वंश का शासन सन् ८७० तक चलता रहा।

इसके बाद भृगुवंशी राजाओं की परंपरा आरंभ हुई। पहला राजा पृथिवीद्र वर्मा था। इंद्र वर्मा तृतीय। परमेश्वर वर्मा, श्रीहरि वर्मा, जयसिंह वर्मा, जय परमेश्वर वर्मा, जय इंद्र वर्मा इसी वंश के थे। सन् १९१२ तक वे लोग शासन करते रहे। इसी बीच कंबोडिया के अनाम पर कई आक्रमण हुए, जिससे दोनों देशों को भारी क्षति पहुँची। सन् १२८२ में मंगोल लोगों का आक्रमण हुआ। इन लोगों से निपटते हुए यह वंश १३९० तक अपना शासन चलाता रहा। प्राचीनकाल में चंपा और अनाम दो पृथक देश होने का विवरण मिलता है, पर वे इन दिनों एक ही बन गए हैं। इसके बाद वहाँ अनामी वंश के बौद्ध राजा राज्य करने लगे।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २५८

चंपा राज्य की सभ्यता के आदि संस्थापक चाम वर्ग के लोग अभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुए हैं। दक्षिण वियतनाम में अभी भी उनकी संख्या ५००० से ऊपर है। उनकी सभ्यता अभी भी हिंदू धर्म के अनुरूप है। किसी समय इन्हीं के पूर्वजों का समस्त वियतनाम पर अधिकार था। सन् १९२ के अभिलेखों में इनके शौर्य, साहस और वर्चस्व का विवरण भली प्रकार उपलब्ध है। चंपा का नामकरण ‘चंपक’ जिन्हें अब ‘चाम’ कहते हैं, के वर्चस्व को ध्यान में रखकर किया गया प्रतीत होता है।

मृतकों का दाह संस्कार, कन्याओं को उत्तराधिकार, मातृ वंश प्रचलन, कर्ण, कुंडल, उत्तरीय वस्त्र, पूजा, उपासना जैसी विशेषताओं को देखते हुए उन्हें उस क्षेत्र में प्रचलित वर्तमान सभ्यता से एक तरह पृथक ही कहा जा सकता है। यों उस क्षेत्र में अभी इस नाम का वर्चस्व है और वहाँ के निवासियों का आचार-विचार व्यवहार भिन्न है। इतने पर भी यह थोड़े से लोग अपनी प्राचीन विशेषताओं को अक्षुण्ण रखे हुए हैं, इसे उनके जातीय गौरव की अद्भुत विशेषता ही कहा जाएगा।

दानांग बंदरगाह पर चाम सभ्यता का अच्छा संग्रहालय है, जिसे देखने से उस देश की प्राचीन गाथा के चित्र आँखों के सामने घूम जाते हैं। चंपा राज्य में अभी भी ऐसे प्राचीन मंदिर कितने ही उपलब्ध हैं जिन पर भारतीय सभ्यता की स्पष्ट छाप है। सेगाँव से उत्तर की ओर ‘ह्यू’ नगर के समीपवर्ती क्षेत्र में ऐसे अवशेष बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं जिन्हें बिना किसी संकोच के हिंदू धर्मानुयायियों द्वारा विनिर्मित कहा जा सकता है।

समझा जाता है कि ‘चंपा नाम उस देश का इसलिए पड़ा कि वहाँ ‘धाम’ जाति के लोग निवास करते थे। आदिवासियों को किरात कहा जाता था। धाम और किरातों का प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं है पर जो कुछ प्रमाण सूत्र मिले हैं उनसे प्रतीत होता है कि वे आर्य वंशी लोग थे और भारतीय धर्म-मान्यताओं का

अनुकरण करते थे। उनका व्यवस्थित इतिहास दूसरी शताब्दी से लेकर अब तक का उपलब्ध है। इस अंवधि में वहाँ भारतीयों के अथक प्रयत्नों से उस क्षेत्र का सर्वतोमुखी विकास उभरता चला आया है। शासन तंत्र वहाँ दूसरी सदी में स्थापित हुआ। उसका संस्थापक भारतीय राजा श्रीमान था इसके बाद वहाँ 'वर्मन' उपाधिधारी राजा राज्य करते चले आए। शासन तंत्र की स्थापना के समय ही वहाँ 'डांगडुंग' के भव्य मंदिर बने जिनमें प्रधानतया शिव के साथ अन्य देवताओं की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं।

चंपा का जो ऐतिहासिक विवरण प्राप्त है उसके अनुसार वहाँ भारतीय समाज व्यवस्था के आधार पर ही प्रथा परंपराएँ प्रचलित रही हैं। वर्ण व्यवस्था, पर्व, त्यौहार, वेष-भूषा, विवाह-अंत्येष्टि आदि की रीति-नीति वैसे ही थी जैसी भारत में पाई जाती थी। उसके प्रमाण तत्कालीन साहित्य, अवशेष, लेख एवं चित्र देखने से सहज ही प्रचुर परिमाण में मिल जाते हैं। उस देश की राजभाषा संस्कृत रही है। महत्त्वपूर्ण राजकीय आज्ञापत्र तथा शिलालेख उसी भाषा में लिखे जाते रहे हैं। अब तक चंपा में लगभग २०० शिलालेख मिले हैं। उन सबकी भाषा संस्कृत तथा लिपि देवनागरी है। उस देश के राजा न केवल धर्मनिष्ठ होते थे, वरन् उन्होंने धर्माशास्त्रों के के गहन अध्ययन में भी विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। संस्कृत के विद्वान तो उनमें से अधिकतर होते ही थे।

चंपा में प्राचीन काल के राजाओं में भद्रवर्मन एक बहुत ही प्रसिद्ध राजा थे। उनका पूरा नाम 'धर्ममहाराज श्री भद्रवर्मन था'। उनका राज्य उत्तरी तथा मध्य चंपा, अमरावती एवं विजय प्रांतों और संभवतः दक्षिण में पांडुरंग प्रांत पर भी कायम था। उनकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यह था कि उन्होंने 'माईसन' में शिव मंदिर का निर्माण करवाया। यह मंदिर चाम लोगों का गष्टीय पूजास्थल बन गया। राजा भद्रवर्मन ने मंदिर निर्माणकर्ता के नाम पर मूर्ति का नामकरण करने की परंपरा चलाई, जो कि बाद के काल में एक सर्वमान्य प्रथा बन गई। प्राप्त शिलालेखों में यह वर्णन

मिलता है कि राजा भद्रवर्मन चारों वेदों के ज्ञाता थे। इससे यह प्रकट होता है कि वे एक अच्छे विद्वान् थे।

सन् ६०५ ई० में चंपा के राजा शंभु वर्मन पर चीनी आक्रमण हुआ जिसमें चीनी सेनापति लियुफांग ने शंभुवर्मन को बुरी तरह परास्त किया और चंपा की राजधानी से १३५० बौद्ध ग्रंथ अपने साथ चीन ले गया।

चंपा में प्रथम राजवंश राजा रुद्रवर्मन प्रथम के द्वारा सन् ५२९ ई० में स्थापित किया गया था। इस राजवंश के अंतिम राजा रुद्रवर्मन द्वितीय थे, जिनकी मृत्यु सन् ७४९ ई० में हुई। इस राजवंश के संबंध में बहुत शिलालेख ‘माईसन’ के पास के क्षेत्र में पाए गए हैं।

रुद्रवर्मन द्वितीय के बाद चंपा राज्य पर पांडुरंग राजवंश का आधिपत्य कायम हुआ। इस राजवंश के संस्थापक ‘राजा पृथ्वीद्र वीन्द्र वर्मन’ थे, इनके उत्तराधिकारी ‘राजा सत्यवर्मन’ थे। इनके राज्यकाल में जावा के समुद्री आक्रमणकारियों ने ‘मुखझलगमूर्ति’ से युक्त मंटिं को विशेष रूप से ध्वस्त कर दिया। इसलिए राजा सत्यवर्मन ने ‘शिवमुख लिंगम’ की एक नई मूर्ति अन्य देवताओं की मूर्तियों के सहित सन् ७४८ ई० में स्थापित की।

राजा सत्यवर्मन के बाद राजा इंद्रवर्मन के राज्यकाल में भी जावा के समुद्री आक्रमणकारियों ने ‘भद्राधिपितश्वर’ का मंदिर जला दिया था। राजा इंद्रवर्मन ने इस मंदिर में फिर से ‘इंद्रभद्रेश्वर’ नाम की नई मूर्ति की स्थापना सन् ७९९ ई० में की। उन्होंने वारापुर में –‘इंद्रभोगेश्वर’ एवं राजा सत्यवर्मन द्वारा निर्मित एक मंदिर में ‘इंद्रपरमेश्वर’ की मूर्तियाँ सन् ८०१ ई० में स्थापित कीं। अंत में राजा इंद्रवर्मन ने शंकर-नारायण देव (एक ही देह में शिव और हरि का संयुक्त स्वरूप) को बहुमूल्य दान का समर्पण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा इंद्रवर्मन के पश्चात एक नया राजवंश ‘भृगु-राजवंश’ के नाम से राजा इंद्रवर्मन द्वितीय द्वारा

स्थापित किया गया। शुरू में इसकी उपाधि 'श्री लक्ष्मीन्द्र भूमीश्वर-ग्रामिस्वामिन' और बाद में चंपा पर आधिपत्य कायम होने के पश्चात 'श्रीविजय' इंद्र वर्मा महाराजाधिराज थी। डांगुड़ुंग शिलालेख से पता चलता है कि इसने एक बौद्ध मंदिर और एक बौद्धमठ का निर्माण कराया था। इससे यह प्रकट होता है कि राजा इंद्रवर्मन द्वितीय का झुकाव 'बौद्ध धर्म' के प्रति था, जबकि इसका परंपरागत विश्वास 'शैवमत' के प्रति था।

उपरोक्त शिलालेख से यह भी प्रकट होता है कि राजा इंद्रवर्मन द्वितीय ने शिव की मूर्ति की स्थापना की थी। इस शिलालेख में 'शंभुभद्रेश्वर' की स्तुति लिखी हुई है।

राजा भद्रवर्मन तृतीय (सन् १०८ ई०-११० ई०) के राज्य काल के पुत्र इंद्रवर्मन तृतीय के बारे में कहा जाता है कि वे हिंदूधर्म के छहों दर्शनशास्त्रों, बौद्धदर्शन, पाणिनि-व्याकरण तथा उसके भाष्य-'काशिका' के बहुत बड़े विद्वान थे।

सन् १६५ ई० में राजा जयइंद्रवर्मन प्रथम ने पो-नगर के मंदिर का जीर्णोद्धार किया और उसकी भगवती की स्वर्णमूर्ति, जिसे कंबुज-आक्रमणकारी उठा ले गए थे, उसके स्थान पर पत्थर की मूर्ति की स्थापना की।

राजा जयइंद्र वर्मन प्रथम के बाद के कुछ राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—राजा परमेश्वर वर्मन, इंद्र वर्मन चतुर्थ, हरिवर्मन द्वितीय (१८९ ई०), विजय श्री (१९९), श्रीहरि वर्मा देव तृतीय (१०१० ई०) परमेश्वर वर्मन द्वितीय, 'श्रीविक्रांत' वर्मन चतुर्थ (१०३० ई०), जयसिंह वर्मन, 'जय परमेश्वर वर्मा देव ईश्वर मूर्ति' भद्रवर्मन तृतीय, रुद्र वर्मन तृतीय, हरिवर्मन, चतुर्थ अथवा 'श्रीहरि' वर्मा देव प्रिंस, थान-यान विष्णु मूर्ति, या माधव मूर्ति या देवतामूर्ति। इनके मृत्यु सन् १०८० ई० में हुई। इनकी मृत्यु होने पर वहाँ की प्रथानुसार इनकी रानियाँ चिता में कूदकर भस्म हो गईं। इनके बाद जय इंद्र वर्मा देव 'परमबोधिसत्त्व' (१०८१ ई०) जय इंद्रदेव वर्मा देव

परमराजाधिराज, हस्तिवर्मन पंचम (सन् १११३ ई०) जयइंद्र वर्मन तृतीय (सन् ११३९ ई०) रत्नभूमि विजय (११४७ ई०), जयइंद्र वर्मन चतुर्थ, जय इंद्रवर्मन पंचम, जय परमेश्वर वर्मन द्वितीय (१२५२ ई०) जयसिंह वर्मा देव चतुर्थ (१३००-१४००), वीरभद्र वर्मन, (१४४१ ई० मृत्यु) महाविजय आदि।

यहाँ के मंदिरों में साधु लोग और सेवकगण भारतीय लंगोटी पहने हुए चित्रित किए गए हैं। यहाँ वैवाहिक-आदर्श, वैवाहिक-संस्कार तथा पति-पत्नी-संबंध भारत के अनुरूप ही थे। भारत में प्रचलित त्योहारों में से बहुत से त्योहार यहाँ लोकप्रिय थे। चाम लोगों का मृतक संस्कार भारत में प्रचलित मृतक संस्कार के ही अनुरूप था।

चंपा में भारतीय साहित्य बहुत प्रचलित था। यहाँ की राज्य भाषा संस्कृत थी। चंपा में अभी तक प्राप्त १०० से अधिक शिलालेखों से यह तथ्य प्रमाणित होता है। ये शिलालेख ऐसी वर्णमाला में लिखे गए थे जो कि भारत में प्रचलित थी। चंपा में भारतीय ग्रंथ बड़ी संख्या में लाए गए थे और उनका अध्ययन किया जाता था। नए संस्कृत ग्रंथों की यहाँ रचना भी की गई थी। इनमें से एक ग्रंथ के नाम के संबंध में पता चला है और उसके अंश भी उपलब्ध हुए हैं।

चंपा के राजागण स्वयं साहित्यिक कार्यों में अग्रणी रूप से रुचि लेते थे। राजा भद्रवर्मन के संबंध में कहा जाता है कि वह चारों वेदों, बौद्ध-दर्शन, पाणिनी व्याकरण और शैवों के सिद्धांत एवं आख्यान में पारंगत था। राजा श्रीजय इंद्र वर्मा देव चतुर्थ व्याकरण, ज्योतिष, महायान दर्शन और धर्मशास्त्रों, विशेषकर नारदीय एवं भार्गवीय का विद्वान था।

उपरोक्त विषयों के अतिरिक्त शिलालेखों से यह स्पष्ट है कि चंपा में रामायण, महाभारत, शैव, वैष्णव एवं बौद्ध धार्मिक साहित्य, मनुस्मृति, तथा पुराणों का अध्ययन बड़ी रुचि के साथ किया जाता था। संस्कृत शिलालेखों की शैली से यह प्रकट होता है कि प्राचीन

संस्कृत साहित्य, जिसमें संस्कृत काव्य तथा गद्य सम्मिलित है, का पर्याप्त ज्ञान चंपा के विद्वानों को था।

चंपा में हिंदू त्रिदेवों में शिव को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। प्राचीन चंपा में माइसन और -पो-नगर में स्थिति दोनों मंदिर-समूह शैव देवताओं को समर्पित हैं। बहुत से शिलालेखों में वर्णन किया गया है कि त्रिदेवों में शिव प्रधान हैं और वे देवों के भी देव 'महादेव' हैं। शिव के सामने इंद्र, दाहिनी ओर ब्रह्मा, पीछे चंद्रमा और सूर्य एवं बाँयी ओर तारागण चित्रित किए गए हैं। शिव का केवल निराकार रूप ही यहाँ प्रचलित नहीं था वरन् शिव का भारतीय साकार स्वरूप भी (पौराणिक गाथाओं के सहित) प्रचलित था।

एक प्राचीनतम शिवलिंग की पूजा चंपा में राष्ट्रीय देव के रूप में की जाती थी। यह क्रम चंपा के संपूर्ण इतिहास काल में बराबर जारी था। इस लिंग की स्थापना चौथी शताब्दी के अंत में अथवा ५वीं शताब्दी के आरंभिक काल में राजा भद्रवर्मन द्वारा की गई थी। इसका नाम भद्रेश्वर रखा गया था और इन्हें माइसन के मंदिर में स्थापित किया गया। माइसन का मंदिर राष्ट्रीय देवालय तथा भव्य मंदिर समूह का केंद्र बन गया। यह मंदिर ४७८ और ५७८ के बीच किसी समय जला दिया गया था। परंतु राजा शंभु वर्मन द्वारा इसका जीर्णोद्धार किया गया। राजा शंभु वर्मन ने प्रचलित प्रथा के अनुसार नई मूर्ति का नाम 'शंभु भद्रेश्वर' रखा। शंभु वर्मन के बाद के राजाओं, जैसे प्रकाश धर्म, इंद्रवर्मन द्वितीय तथा दूसरे राजाओं में उक्त देवों के देव की स्तुति में स्रोतों की रचना करवाने एवं मंदिर को अधिक से अधिक बहुमूल्य दान देने में परस्पर प्रतिस्पर्द्धा की गई थी। ये देवों के देव चंपा राज्य के संरक्षक-देव के रूप में पूजित किए जाते थे।

ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य 'श्रीशानभद्रेश्वर' की पूजा राष्ट्रीय देव के रूप में होने लगी। श्रीशानभद्रेश्वर संभवतः शंभुभद्रेश्वर का ही नया नाम था। जय इंद्रवर्मन चतुर्थ ने श्रीशान-भद्रेश्वर के मंदिर

को चाँदी से अलंकृत किया और मंदिर के शिखरों को सोने से मढ़ा।

शिवलिंग जिसे चंपा में राष्ट्रीय देव की प्रतिष्ठा प्राप्त थी, के अतिरिक्त अन्य छोटे देवताओं की मूर्तियाँ भी यहाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय पो-नगर में स्थित शंभु-मुखलिंग हैं। ८वीं शताब्दी ईस्वी के एक शिलालेख से प्रकट होता है कि इस मुखलिंग की स्थापना राजा विचित्र सागर द्वारा की गई थी। अन्य दो शिलालेखों से इनकी स्थापना की निश्चित तिथि के संबंध में ज्ञान होता है। इसके अनुसार इसकी स्थापना द्वापर युग के ५९११वें वर्ष में अर्थात् करीब १७८०५०० वर्ष पूर्व हुई थी। सन् ७७४ ई० में यह लिंग ध्वस्त कर दिया गया था, पर राजा सत्य वर्मन ने इसे पुनस्थापित किया और इसका नाम सत्यमुखलिंग रखा गया।

चंपा के राजागण प्राचीन काल में इन प्रसिद्ध लिंगों को न केवल दान देना एवं इनका संरक्षण करना अपना पवित्र कर्तव्य मानते थे, वरन् नए लिंगों की स्थापना को भी अपना धर्म मानते थे। इस तरह से एक सर्वमान्य प्रथा सी बन गई थी कि जब कभी कोई राजा नई मूर्ति की स्थापना करता था, तब उस नई मूर्ति के साथ राजा का नाम जोड़ दिया जाता था। भारत में इस प्रथा के संबंध में जानकारी थी।

शिव के साथ अन्य बहुत से देवी-देवताओं को जोड़ दिया था। इन सबों में शिव की 'शक्ति' का स्थान सबमें अधिक महत्वपूर्ण था। इन्हें उमा, गौरी, भगवती देवी एवं महादेवी नामों से संबोधित किया जाता था। उन्हें मातृ लिंगेश्वरी एवं भूमीश्वरी में भी कहा जाता था।

ऐसा प्रतीत होता या कि चंपा के दक्षिणी क्षेत्र, 'कोठारा' में शक्ति पूजा कुछ बहुत व्यापक रूप में प्रचलित थी। यहाँ यूप-नगर देवी अथवा भगवती 'कोठारेश्वरी' की मूर्ति पो-नगर के मंदिर में

स्थापित थी। यह मंदिर चाम लोगों का राष्ट्रीय पूजा स्थल बन गया था। इसकी तुलना शंभु भद्रेश्वर अथवा श्रीशानभद्रेश्वर-मंदिरों से की जा सकती थी।

शिव पूजा के साथ संबंध दूसरे देवता 'गणेश' या 'विनायक' थे। चंपा में गणेश की मूर्तियाँ इतनी अधिक संख्या में विद्यमान हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि चंपा में गणेश की पूजा उनकी माता उमा की पूजा से अधिक लोकप्रिय थी।

चंपा के तीसरे लोकप्रिय देवता 'कार्तिक' या 'कुमार' थे। अभी तक इनकी ४-५ मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें से दो मूर्तियों के साथ उनका वाहन, 'मोर' भी है। शिव और उमा के वाहन 'नंदिन' की मूर्तियाँ भी मंदिरों में बड़ी संख्या में पाई गई हैं।

चंपा में वैष्णव धर्म को प्रतिष्ठा का वह स्थान प्राप्त नहीं था, जो कि शैव धर्म को प्राप्त था। फिर भी चंपा में वैष्णव धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान माना गया था। विष्णु को विभिन्न नामों से जैसे 'पुरुषोत्तम', 'हरि', 'माधव', 'गोविंद' से संबोधित किया जाता था। परंतु भारत की तरह ही यहाँ भी विष्णु भगवान के अवतारों को स्वयं विष्णु से अधिक महत्व दिया जाता था। इन आकारों में राम और विष्णु ने अपने को ४ रामों-अर्थात् राम और उनके तीन भाई के रूप में विभाजित कर दिया था। कृष्णावतार में विष्णु की वीरतापूर्ण लीलाओं की बहुत प्रतिष्ठा है।

चंपा के राजागण अपनी तुलना विष्णु से करने में बहुत हर्षित होते थे। कभी-कभी वे स्वयं को विष्णु का अवतार मान लेते थे। इस प्रकार राजा जय रुद्र वर्मन को विष्णु का अवतार माना जाता था और उनका पुत्र 'श्रीजयहरिवर्मदिव शिवानंदन' स्वयं को विष्णु का विशेष अवतार मानता था। विष्णु के संबंध में यह मान्यता थी कि वे चारभुजा वाले देव हैं जिनका वाहन गरुड़ है। परंतु कभी-कभी वे क्षीर सागर पर असंख्य फन वाले 'शेषनाग-वासुकी' पर शयन करते हैं।

विष्णु की शक्ति के रूप में लक्ष्मी चंपा की प्रसिद्ध देवी थी। इन्हें 'पद्मा' एवं श्री नामों से भी संबोधित किया जाता था। इनका उल्लेख शिला-लेखों में भी मिलता है।

शिव के वाहन-'नंदिन' के समान ही विष्णु के वाहन-'गरुड़' की मूर्ति भी चंपा में लोकप्रिय भी।

चंपा के शिलालेखों में हिंदू-त्रिदेवों के तीसरे देव, 'ब्रह्मा' का सृष्टिकर्ता के रूप में उल्लेख मिलता है, परंतु इन्हें कोई विशेष प्रतिष्ठा का स्थान चंपा में प्राप्त नहीं था। ब्रह्मा की मूर्ति की विशेषता थी, उनका चार मुखों वाला होना, हाथ में माला और कमल की नाल का होना और साथ में हंस का वाहन के रूप में होना।

यद्यपि हिंदू त्रिदेवों-ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश की ही विशेष रूप से पूजा की जाती थी, फिर भी छोटे देवी-देवताओं जैसे इंद्र, यम, चंद्र, सूर्य, कुबेर एवं सरस्वती की पूजा भी की जाती थी।

चंपा में शिव, विष्णु आदि की मूर्तियों के बाबजूद निराकार परमात्मा की भी धारणा विद्यमान थी, जिसका उल्लेख एक शिलालेख में मिलता है। चंपा में यज्ञों के करने पर विशेष जोर दिया जाता था। यज्ञों की महिमा की प्रशंसा बार-बार की गई थी। ऐसा भी प्रतीत होता है कि भारतीय तत्त्वचिंतन के निवृत्ति मार्ग का चाम लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि चंपा के राजाओं एवं कुलीन जनों ने किस तरह संसार के सभी परार्थों-जैसे धन, वैभव, सत्ता तथा सांसारिक लाभों की क्षण-भंगुरता एवं नश्वरता की भावना से प्रेरित होकर धार्मिक पूण्य कर्मों को, पाप कर्मों के प्रायशिच्चत स्वरूप एवं मोक्ष प्राप्ति हेतु अथवा शिव लोक प्राप्त हेतु प्रधान कर्तव्य माना था।

चंपा में बुद्ध विभिन्न नामों से जिन, लोकनाथ, लोकेश्वर, सुगत, शाक्यमुनि, अभिताभ, वज्रपाणि, वैरोचन एवं प्रमुद्रित लोकेश्वर से संबोधित किए जाते थे। चंपा के लोगों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

काफी गहराई से था। इस तथ्य की पुष्टि इस ऐतिहासिक घटना में होती है कि विजयी चीनी सेनापति लिय-फंग सन् ६०५ ई० में १३५० बौद्ध ग्रंथ चंपा से लूटकर अपने साथ चीन ले गया था।

यह प्रकट है कि चंपा में बौद्ध धर्म को राजकीय संरक्षण एवं सहायता पर्याप्त रूप में प्राप्त थी। फलस्वरूप बुद्ध की मूर्तियाँ तथा बौद्ध मंदिर राजाओं एवं चंपा निवासियों द्वारा निर्मित किए गए। चंपा में बौद्ध भिक्षुकों का शक्तिशाली संघ विद्यमान था। जनश्रुति के आधार पर ज्ञात होता है कि चंपाराज्य के विभिन्न भागों में बौद्ध मठों का निर्माण हुआ था।

राजा 'श्री जय इंद्रवर्मन' ने सन् ८७५ ईस्वी में 'लोकेश्वर' बुद्ध की मूर्ति को, जिसे उनके नाम पर 'लक्ष्मींद्र लोकेश्वर' कहा जाता था, स्थापित किया। उसने बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक बौद्ध मठ का भी निर्माण करवाया था। यह प्रकट है कि 'डांग-डुंग' बौद्ध धर्म का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। वहाँ की खुदाई करने पर एक बौद्ध मंदिर का अवशेष प्राप्त हुआ है जिसकी लंबाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई चंपा के सबसे 'ब्राह्मणीय मंदिर' से भी अधिक है। खंडहरों के बीच में से बुद्ध की बहुत-सी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। डांगडुंग में प्राप्त बुद्ध की एक प्रतिमा करीब पाँच फीट ऊँची है। डांगडुंग में ही बुद्ध की एक सुंदर खड़ी मूर्ति कांसे की बनी हुई प्राप्त हुई है। बुद्ध की यह सुंदर मूर्ति चंपा में अभी तक प्राप्त मूर्तियों में कला की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। चंपा में धार्मिक विकास की यह खास विशेषता थी कि वहाँ प्रारंभ से अंत तक विभिन्न धार्मिक संप्रदायों एवं धर्मों में धार्मिक सहिष्णुता का उदार भाव विद्यमान था।

चंपा में कई धार्मिक संप्रदायों एवं मतों के कायर होने के बाबजूद, बौद्ध धर्म के साथ ही साथ ब्राह्मण धर्म के दो अथवा तीन प्रभावशाली संप्रदाय फलते-फूलते विद्यमान थे। पर धर्म के क्षेत्र में उनके बीच परस्पर कभी किसी प्रकार का तनाव एवं

झखचाव नहीं रहा। इसके बिलकुल विपरीत विभिन्न धर्म एवं मतों के अनुयायीगण परस्पर एक-दूसरे के प्रति उदारता एवं सम्मान की उच्च भावना से अनुप्राणित थे। राजागण सभी धर्म-ग्रंथों एवं मतों की सर्वोन्तम बातों को ग्रहण करते थे। इस प्रकार से राजा 'प्रकाश धर्म' ने शिवलिंग की स्थापना के साथ ही साथ विष्णु का एक मंदिर भी निर्माण करवाया। राजा इंद्रवर्मन ने शैव तथा बौद्ध धर्मों के प्रति समान रूप से आदर का भाव प्रदर्शित किया। इस तरह के बहुत से उदाहरण प्राप्त हो सकते हैं। यहाँ के निवासियों ने राजाओं के आदर्श का अनुकरण किया। इस विषय में भारतीय उपनिवेशकों ने अपनी मातृभूमि (भारत) की सर्वश्रेष्ठ परंपराओं का पालन किया।

चंपा में कंबोडिया तथा जावा के समान प्राचीन संस्कृति की याद दिलाने वाले भव्य स्मारक यद्यपि अब प्राप्त नहीं, क्योंकि यहाँ (चंपा) के प्राचीन स्मारक ईटों से बने होने के कारण करीब-करीब नष्ट से हो चुके हैं, यद्यपि उनके जो भी अवशेष अभी भी विद्यमान हैं, उनसे प्रकट है कि इन प्राचीन स्मारकों की कला काफी विकसित थी। चंपा के लोग अधिकतर मंदिरों एवं देवी-देवताओं की मूर्तियों को अलंकृत करने एवं सजाने-धजाने में अपनी कलात्मक चतुरुर्ग एवं साधनों का उपयोग करते थे। चंपा के सभी मंदिरों की निर्माण कला सामान्य रूप से एक ही सी है। वे प्रायः ईटों से बने हुए हैं। इनका मुख प्रायः पूर्व दिशा की ओर होता है।

चंपा में तीन मुख्य वर्गों के मंदिर हैं। जिनमें प्रथम वर्ग में 'माइसन' डांग-डुंग तथा 'पो' नगर के मंदिर हैं। दूसरे वर्ग में बौद्ध मंदिर हैं एवं तीसरे वर्ग में दो शैव मत के मंदिर हैं। माइसन वर्ग के मंदिर दूरन्ते से २१ मील दूर दक्षिण-दक्षिणपूर्व में घाटी में स्थित हैं। माइसन-में मंदिरों की संख्या ३० से अधिक है।

डांगडुंग के ध्वंशाशेष माईसन से २२ मील दूर दक्षिण पूर्व में स्थित हैं। इसके चारों ओर ईटों की दीवाल बनी हुई हैं जिसमें पूर्व

की दिशा में एक द्वार है। मध्य में बने भवन के अत्यंत पश्चिम में प्रधान पूजा स्थल है। जिसके चारों ओर चार पूजा स्थल एक ही चबूतरे पर बने हुए हैं। यहाँ अन्य दो और मंदिर बने हुए हैं। भीतरी आंगन में ७ मंदिर बने हुए हैं।

खन्ह-हो जिले में नहटूंग के पास पो-नगर में पहाड़ी की चोटी पर दो कतारों में ६ मंदिर बने हुए हैं। इन सब मंदिरों के चारों ओर दीवाल बनी हुई है।

चंपा में मंदिर निर्माण कला बहुत विकसित थी। इस कला के सुंदर नमूने देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं जो कि बड़ी संख्या में चंपा देश के प्रत्येक भाग में प्राप्त हुई हैं। कहीं-कहीं मंदिरों की कलापूर्ण सजावट बहुत श्रेष्ठ कोटि की है।



बाली में धर्म विस्तार

जावा से सौ मील से कम दूरी पर पूर्व में एक छोटा-सा द्वीप है—बाली। इसकी लंबाई ५३ मील, चौड़ाई ५० मील और जनसंख्या लगभग १५ लाख है। यहाँ अभी भी भारतीय सभ्यता यथावत अक्षुण्ण है। जब कि इस्लाम ने स्वर्णद्वीप के सभी क्षेत्रों को रौंद डाला, तो भी बाली में किसी प्रकार हिंदू सभ्यता यथावत बनी हुई है और यथा स्थान खड़ी हुई है। यहाँ के प्राचीन मंदिर अभी भी गर्वोन्नत मस्तक रखे हुए खड़े हैं, अन्य देशों की तरह धर्माधि लोगों द्वारा तहस-नहस नहीं किया गया है।

इतिहासकार पैलिअट के अनुसार बाली की राजकुमारी भारत के राजा शुद्धोधन के साथ विवाही थी। उसी का शासन इस देश में चलता था।

बाली का क्षेत्रफल २०.९५ वर्ग मील है यहाँ की भूमि उपजाऊ है। पूरा देश एक सुंदर बाग की तरह दीखता है। बाली ही एक ऐसा द्वीप है जहाँ अभी तक प्राचीन हिंदुओं की संस्कृति तथा सभ्यता व्यापक रूप में कायम है। इस देश में इस्लाम प्रवेश करने में असमर्थ रहा। इस देश की प्राचीन हिंदू संस्कृति पर खोज पूर्ण गहन अध्ययन करने की अभी भी बड़ी गुंजाइश है। लि अड् राजवंश (५०२-५५६ ई०) के चीनी इतिहास में सबसे पहिले 'पो-लि' का वर्णन मिलता है, जो कि बाली का चीनी नाम है। चीनी विवरण से बाली देश के राजा के संबंध में रोचक वर्णन मिलता है। उक्त चीनी विवरण से निश्चित रूप में यह प्रमाणित होता है कि बाली द्वीप में हिंदू राजाओं का राज्य था जो कि बौद्ध धर्म मानने वाले थे। यह राज्य द्विती शताब्दी ईस्वी में

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २७१

कायम था, क्योंकि उस देश के राजा ने ५१८ ईस्वी में अपना एक दूत चीन भेजा था।

चीनी यात्री आईतिंग ने लिखा है कि 'दक्षिण सागर के द्वीपों में बाली भी एक ऐसा देश था जहाँ मूल सर्वास्तिवाद निकाय का पूर्ण रूप से सब लोगों द्वारा पालन किया जाता था। सबसे शुरू के चीनी विवरणों से ज्ञात होता है कि बाली द्वीप में छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म कायम था। इसलिए यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाता है कि बाली द्वीप में हिंदू उपनिवेश की स्थापना की प्रारंभिक शताब्दियों में ही बौद्ध धर्म ने अपनी नींव वहाँ यक्के रूप में जमाली थी। हाल की जाँचों से यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो गया है कि बाली 'एक हिंदू उपनिवेश था, जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति थी। यह संस्कृति भारत से सीधे ग्रहण की गई थी। बाली से संबंधित शिलालेखों की भाषा प्राचीन बालानी है, न कि प्राचीन जावानी। इस तथ्य से यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है कि बाली ने अपनी हिंदू संस्कृति जावा के माध्यम से प्राप्त की थी। बाली का विकास हिंदू उपनिवेश के रूप में स्वतंत्र रूप से हुआ था और साथ ही साथ जावा और सुवर्णद्वीप के अन्य द्वीपों के साथ भी उसका विकास हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं कि बाली पर जावा का आधिपत्य बराबर कायम होता रहा, जिसके फलस्वरूप इन दोनों पड़ोसी देशों में निकट का संबंध बना रहा।'

ज्ञात इतिहास के आधार पर यह निश्चित रूप से पता चलता है कि 'केशरी वर्मा देव' बाली के प्रथम राजा थे (११४ ईस्वी)। सन् १३४ ई० में ही बाली जावा साम्राज्य का अंग बन गया था। इसके बाद में दोनों द्वीपों की राजनीति तथा संस्कृति एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप में जुड़ गई।

बाली इस तरह जावा के साहित्यिक जीवन का केंद्र बन गया। बाली में जावानी साहित्य का महत्व दिनों-दिन बढ़ता गया, परंतु जावा में उसके साहित्यिक जीवन का हास होता गया। जावा

की परंपराओं को बाली ने आगे बढ़ाया और उसका विकास किया।

इस्लाम के बढ़ते चरण का मुकाबला न कर सकने के कारण मजपहित (जावा) के राजा ने अपने साथियों सहित बाली में शरण ली। जावा के निवासी भी एक बड़ी संख्या में अपनी संस्कृति और धर्म के रक्षार्थ बाली चले गए और वहाँ ही बस गए। इस तरह से बाली हिंद-जावानी संस्कृति और सभ्यता का अति महत्वपूर्ण केंद्र बन गया, जो कि आज तक कायम है। बाली में हिंद जावानी संस्कृति का न केवल और अधिक विकास हुआ वरन् उसने (बाली ने) उसे लुप्त होने से बचा लिया। जावा में इस्लाम धर्म के प्रसार के फलस्वरूप हिंद जावानी संस्कृति वहाँ से लुप्त ही हो गई।

‘नवरुचि’-बाली द्वीप का एक लोकप्रिय ग्रंथ है, जिसमें भीम के द्वारा युद्धों में प्राप्त विजयों का वर्णन है।

प्राचीन जावानी भाषा में रामायण ग्रंथ के उत्तरकांड का पद्म में अनुवाद है। पौराणिक वर्ग के ग्रंथों में ‘ब्राह्मण पुराण’ सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसकी रचना भारतीय पुराणों के आदर्शानुरूप की गई है, यद्यपि इसमें इधर-उधर जावानी प्रभाव भी है।

इस वर्ग की दूसरी रचना—“अगस्त्य-पर्व” है, जिसमें अगस्त्य अपने पुत्र द्विदृस्यु से सृष्टि रचना के संबंध में पौराणिक शैली में वर्णन करते हैं। बाली में भारतीयता की पहुँच तथा प्रगति के ऊपर सिलेमेन लेखी की ‘संस्कृत टेक्सट्स फ्राम बाली’ पुस्तक अच्छा प्रकाश डालती है।

हिंदू धर्म आज भी बाली का एक जीवित धर्म है, इसलिए यहाँ हिंदू धर्म के क्रियात्मक पक्ष के संबंध में जावा से कहीं अधिक विवरण प्राप्त होते हैं। बाली निवासियों के जीवन में धार्मिक कर्मकांड एवं क्रियाओं का विशेष स्थान है। बाली में प्रचलित पूजा पारिवारिक एवं सार्वजनिक दो प्रकार की होती है, जिसमें पारिवारिक

पूजा की कोटि में सबसे अधिक महत्व 'सूर्य सेवन' या 'शिव की सूर्य रूप में पूजा' है सूर्य सेवन के अतिरिक्त पारिवारिक धार्मिक कर्मकांडों में वे सब संस्कार भी किए जाते हैं, जो कि गृह-सूत्र में बताए गए हैं और जिनका पालन मनुष्य के जीवन के महत्वपूर्ण संस्कार, कानछेदन संस्कार, विवाह, मृतक तथा दाह संस्कार के रूप में किया जाता है।

सार्वजनिक पूजा के लिए प्रत्येक जिले में ३ या ४ सार्वजनिक मंदिर हैं। पूर्वजों की पूजा बाली धर्म का एक महत्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक घर में एक या एक से अधिक छोटे मंदिर पूर्वजों के लिए बने होते हैं।

भारतीय पूजा में उपयोग में आने वाली सहायक सामग्रियों जैसे घृत, कुश-घास और मधु बाली में भी पूजा सामग्री माना जाता है। भारत की पवित्र नदियों जैसे गंगा, यमुना, सिंधु, कावेरी, सरयू तथा नर्मदा के नामों के अनुरूप बाली की नदियों के नाम भी रखे गए हैं।

देखिए—“हिंदू कल्चर इन ग्रेटर इंडिया” द्वारा सदानन्द पृष्ठ (१९-२०) ‘संस्कृत टेक्स्ट्स फ्राम बाली’ से उद्धृत (बाली में प्रचलित संस्कृत के सूत्र)

शिवस्तव :

ॐ नमः शिवाय शर्वाय देवदेवाय वै नमः ।

रुद्राय भुवनेशाय शिवरूपाय वै नमः ॥

जाग्रत् स्वप्न सुषुत.....जायते च

(पृष्ठ २०)

भैरवस्तवः

महाभैरवरूपश्च.....शिश्शास्तकम्

(पृष्ठ २०-२१)

महादेवस्तवः

ॐ नमोस्तु ते महादेव.....क्षमानुग्रह कारणं ॥

(पृष्ठ २१)

उमास्तवः

ॐ पार्वती.....नमो नमः ॥

(पृष्ठ २१-२२)

श्रीस्तवः

ॐ श्री देवी.....नमोऽस्तु ते ॥

बालीद्वीप के प्रचलित पुरोहितों (पाइंदा) में प्रचलित संस्कृत मंत्र ।
महादेव.....निष्फल ।

ध्यानी बुद्ध.....सकल (बुद्ध का आवाहन मंत्र)
ॐ कसोल्.....नमः ।

स्तोत्र वेद शिवस्तवः.....परम शिव स्तव ।

बाली में पाइंदा या पुरोहित द्वारा पूजा कराई जाती है। ये पाइंदा ब्राह्मण ही होते हैं।

बाली में अभी भी हिंदू धर्म का बाहुल्य है। राजधानी के नाम पर इस द्वीप का नामकरण हुआ है। विवाहों में संस्कृत के वेद मंत्र बोले जाते हैं। मुर्दों को जलाया जाता है और श्राद्ध कर्म किए जाते हैं। देव प्रतिमाओं की समय-समय पर शोभा यात्रा निकलती रहती है। रामलीला की धूम रहती हैं।

बाली को देवताओं का द्वीप कहा जाता है। यहाँ की केचीक शैली के रामायण अभिनय बहुत आकर्षक होते हैं। यहाँ की प्राचीन भाषा केवि में उपलब्ध रामायण के संदर्भ में लिखे गए ग्रंथों का श्रद्धापूर्वक पाठ पारायण किया जाता है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व योगेश्वर नामक कवि ने रामायण कथानक पर ग्रंथ लिखे थे जो अभी भी लोकप्रिय हैं।

यहाँ के मंदिरों के पुजारी धार्मिक कृत्य तो करते हैं, पर आजीविका की दृष्टि से पूजा या दान दक्षिणा पर निर्भर नहीं रहते। वे कृषि, लकड़ी का काम, नक्काशी अथवा जो भी काम अनुकूल पड़े उत्साहपूर्वक करते हैं। इससे उनके सामाजिक सम्मान में कोई कमी नहीं आती। मंदिरों में छोटे बच्चों की शिक्षा व्यवस्था भी रहती

है। पुजारी प्रायः ब्राह्मण वर्गों के होते हैं। (१) पाइंदा (२) सेनगग्हु (३) पामागकू।

पाइंदा पारिवारिक धर्मानुष्ठान की व्यवस्था बनाते हैं। पामागकू मंदिरों की सेवा पूजा का उत्तरादायित्व सँभालते हैं और चिकित्सा शिक्षा आदि उपयोगी कार्यों में निरत रहते हैं। शिव इस देश के मान्य देवता हैं। ब्राह्मण तथा दूसरे लोग यहाँ यज्ञोपवीत धारण करते हैं किंतु उसे अत्यंत पवित्र मानकर पेटियों में बंद रखते हैं और विशेष धार्मिक आयोजनों के समय ही धारण करते हैं। यहाँ के पुरुषों और स्त्रियों के नाम प्रायः भारतीय नामों से ही मिलते-जुलते होते हैं। घर-घर वस्त्र बुनना यहाँ का कुटीर उद्योग है।



स्याम (थाईलैंड) एक मात्र बौद्ध राष्ट्र

थाईलैंड (स्याम) संसार का एक मात्र ऐसा देश है, जहाँ बौद्ध धर्म राजधर्म भी है। अन्य देशों ने तो भारत की परंपरागत संस्कृति इन थोड़े ही दिनों में गँवा दी, पर यह अकेला देश ऐसा है, जिसमें वर्तमान भारत की परिधि से आगे जाकर यह देखा जा सकता है कि प्राचीनकाल में भारत की रीति-नीति का क्या स्वरूप था? वहाँ जो देखने को इन दिनों भी मिलता है, उससे यह पता लगता है कि भारत किन मान्यताओं और आदर्शों के कारण उन्नति के उच्च स्तर पर पहुँचा था और शांति का संदेश सुदूर क्षेत्रों में पहुँचाने में किन परंपराओं के कारण सफल हुआ? आज कई बातों में थाईलैंड इसे ऐसी शिक्षाएँ और प्रेरणाएँ दे सकता है, जिन्हें अपना कर हम प्रस्तुत दुर्गति के गर्त से उबर सकते हैं।

उस देश में पहले हिंदू-धर्म प्रचलित था, बौद्ध धर्म बाद में पहुँचा, बौद्ध धर्म का प्रवेश सन् ४२२ में हुआ। इससे पूर्व वहाँ ब्राह्मण-धर्म प्रचलित था। दोनों धर्मों का वहाँ सुंदर समन्वय हुआ है। दार्शनिक भिन्नताओं को वहाँ पूरी सहिष्णुता के साथ सहन किया गया है। इतना ही नहीं, उनका परस्पर समन्वय भी भली प्रकार हुआ है। सांप्रदायिक मतभेद के कारण जहाँ अन्यत्र के लोग विग्रह और विद्वेष खड़ा करते हैं, वहाँ इस तरह की कभी कोई बात हुई ही नहीं। बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म सहोदर भाई की तरह परस्पर प्रेम पूर्वक रहते रहे हैं।

बौद्ध धर्म के आगमन से पूर्व वहाँ हिंदू धर्मानुयायी राजा राज करते थे। राजा धर्मशोक ने भव्य विष्णु मंदिर बनवाया था। उसके बाद भी अनेक हिंदू राजा देवी-देवताओं के मंदिर बनाते रहे,

जिनका अस्तित्व अभी भी जीवंत इमारतों तथा भग्नावेषों के रूप में विद्यमान है। फ्रोके के शिव-मंदिर की अभी भी ब्राह्मण-पुजारी पूजा करते हैं। बौद्ध वर्चस्व होने पर भी अभी वहाँ ब्राह्मणों की मान्यता उसी प्रकार है। ब्राह्मण को वहाँ 'ब्रह्म' कहते थे, पीछे उसी का अपभ्रंश होकर 'फ्रंम' बन गया। फ्रंम नाम से वहाँ ब्राह्मण वर्ग का परिचय मिलता है। 'देव नगर' उनकी एक पूरी बस्ती ही बसी है। बौद्ध-परिवारों में धार्मिक कर्मकांड कराने यह फ्रंम लोग ही जाते हैं।

हिंदू त्योहार और बौद्ध त्योहार दोनों सर्वसाधारण के लिए समान रूप से हर्षोत्सव का विषय रहते हैं। मकर संक्रांति, वैसाखी, होली पर पानी उलीचने का-एक दूसरे को भिगोने का उन्माद भारत से घट कर नहीं, वरन् बढ़-चढ़कर ही देखा जा सकता है। स्थानीय नदियों में गंगा माता की भावना करके वहाँ के निवासी नदी-प्रवाह में दीपक तथा पुष्पों के दैने बहाते हैं। यहाँ के राजा वर्ष में एक बार जनक की तरह हल चलाते हैं और धार्मिक उत्सव में साधारण नागरिक की तरह सम्मिलित होते हैं। मुहूर्त और ज्योतिष का प्रचलन वहाँ भी है। राजकीय समारोहों का पूजा विधान अभी भी वहाँ ब्राह्मणवंशी राज-गुरु ही मंत्रोच्चारण के साथ कराता है।

बैंकांक के एक प्राचीन मंदिर में ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, दुर्गा आदि देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित हैं। खंडहरों में उपलब्ध कितनी ही देव प्रतिमाएँ अब वहाँ के राष्ट्रीय-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। ब्रह्माजी की वहाँ भारत की तरह उपेक्षा नहीं है, वरन् घरों में ब्रह्माजी प्रतिष्ठापित रहते हैं। बैंकोक के प्रधान होटल (इरावन) के मुख्य द्वार पर ब्रह्माजी की भव्य प्रतिमा स्थापित है। छठी शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक की अवधि में वहाँ हिंदू-देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं, जो भारत में प्रमुखता प्राप्त करते हैं। बैंकोक में ऊँची टेकरी पर बने एक बौद्ध मंदिर में शिव-लिंग एवं नांदी की भी स्थापना है और पूजा अर्चा होती है।

बुद्ध के बाद उस क्षेत्र के उपासकों में राम का नंबर आता है। बुद्ध की शिक्षाओं की तरह ही वहाँ रामायण कथा भी लोकप्रिय है। लवपुरी में हनुमान की मूर्तियों की भरमार है।

फ्राईसुवन की खुदाई में भगवान राम की मूर्ति मिली है। बस के टिकटों तक पर राम के चित्र छपे रहते हैं। बैंकोक के राष्ट्रीय-संग्रहालय के बाहर धनुषधारी राम की विशाल मूर्ति खड़ी हुई है और राष्ट्रीय-नृत्य ग्रह के बाहर वैसी ही विशालकाय गणेश प्रतिमा स्थापित है। कुछ सरकारी विभागों का राज्य-चिन्ह 'गणेश' है। कला विभाग के द्वार पर 'विश्वकर्मा' की मूर्ति स्थापित है।

थाईलैंड की आबादी प्रायः डेढ़ करोड़ है। उसमें २५ हजार भारतीय मूल के बसते हैं, जो ईसा की प्रथम शताब्दी में भारत से वहाँ जाकर बसे। उनकी संतानों ने थाई-जनता के साथ अपने को पूरी तरह धुला-मिला लिया है। इसका क्षेत्रफल १ लाख, ९८ हजार वर्गमील है। इसकी सीमाएँ वर्मा, कंबोडिया, लाओस और मलेशिया को छूती हैं।

थाई भाषा में ४० प्रतिशत से अधिक शब्द 'संस्कृत' के हैं। इसके अतिरिक्त पाली एवं प्राकृत के शब्द भी बहुत हैं। वर्णमाला देवनागरी से मिलती-जुलती है। स्वर और व्यंजनों का क्रम भी लगभग वैसा ही है। भारत की धार्मिक विधि व्यवस्थाओं-पौराणिक कथाओं-तथा बुद्धचर्या का उल्लेख करने वाला साहित्य ही प्राचीन काल में वहाँ लिखा जाता रहा है। जो भी पुराने हस्तलिखित ग्रंथ वहाँ मिलते हैं, उनमें यही विषय हैं, या कुछ ग्रंथ अन्य विषयों के भी मिले हैं। थाईलैंड के सिनेमा-घरों में भारत की धार्मिक-फिल्में सफलता पूर्वक चलती हैं।

रामायण कथा की नृत्य नाटिकाएँ उस देश में प्रत्येक पर्वोत्सव पर होती रहती हैं। उसमें राज-परिवार के तथा उच्चस्तर के लोग अभिनय करते हैं। जनता उनमें बहुत रस लेती है। रामचरित्र वहाँ बच्चे-बच्चे को याद है, वहाँ वह बहुत ही लोक-प्रिय है।

थाईलैंड के प्राचीन साहित्य में भारतीय कथा-पुराणों का छायानुवाद ही भरा पड़ा है। अधिकांश प्राचीन ग्रंथ बृद्ध-उपदेश, आचार-विधान एवं जातक-कथाओं से संबंधित मिलते हैं।

राजवंशी-इतिहास एवं धर्म-प्रचारकों के क्रिया-कलाप का प्राचीन विवरण प्राप्त करने से यही पता चलता है कि भारतीय मूल के निवासी समय-समय पर वहाँ पहुँचते रहे हैं और देश की प्रगति एवं समृद्धि का आधार बनते रहे हैं। उस देश के मूल नागरिकों को उन्होंने अपने से पृथक नहीं रखा उनके साथ घुलने तथा उन्हें अपने में घुलाने का ऐसा प्रयत्न करते रहे हैं कि अब थाई-जाति का वंश-रक्त की दृष्टि से पृथक्करण करना संभव नहीं रहा। राजधानी बैंकोक को मंदिरों का नगर कहा जा सकता है। यहाँ तीन सौ बड़े बौद्ध मंदिर हैं। इनमें भिक्षु रहते हैं और धर्म शिक्षा के उपयोगी संस्थानों का संचालन करते हैं। फ्राकियो मंदिर में नीलम रत्न की बनी राम की बहुमूल्य प्रतिमा है और दीवारों पर रामायण कथानक के भित्तिचित्र बने हैं। दर्शनीय स्थानों में अयोध्या, लवपुरी, विष्णुलोक, समुद्र प्रकरण, प्रथमनगर विशेष रूप से आकर्षक हैं। सेनान नदी के बीचोबीच टापू पर बना बौद्ध मंदिर निर्माणकर्ताओं के जीवट का परिचय देता है। इसके अतिरिक्त हिंदू देवी-देवताओं की मूर्तियों वाले मंदिरों तथा बौद्ध-विहारों का अस्तित्व हर छोटे-बड़े स्थान में पाया जा सकता है।

मगध के चंद्रगुप्त नामक बौद्ध-भिक्षु ने इस देश को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया था। गांधार में पिथल गुफा, बोधि वृक्ष, गृद्धकूट पर्वत आदि के उपलब्ध अवशेषों से उस देश में बौद्ध धर्म की प्राचीनता सहज ही प्रमाणित होती है। मुँहसीतेप में संस्कृत भाषा के प्राचीन शिलालेख मिले हैं। मापमारबम के उपलब्ध शिलालेख भी उस देश पर भारतीय संस्कृति का वर्चस्व प्रमाणित करते हैं।

बौद्ध और हिंदू धर्म परस्पर इतनी घनिष्ठता के साथ थाईलैंड में घुस गए हैं कि उनकी पृथकता कठिनाई से ही पहचानी जा

सकती है। समन्वय, समझदारी एवं सहिष्णुता की यहाँ जैसी रीति-नीति अन्यत्र भी अपनाई गई होती तो सांप्रदायिक विद्वेष का कहीं कोई दृश्य दिखाई न पड़ता और धर्म-तत्त्व के प्रति सहज ही सबकी श्रद्धा जमी रहती।

थाईलैंड के बौद्ध मंदिरों में नारायण, विनायक, शिव, ऋषि आदि की प्रतिमाएँ भी हैं और उन्हें क्या बौद्ध, क्या हिंदू समान श्रद्धा के साथ पूजते हैं। यहाँ की जनता सरल और धार्मिक वृत्ति की है। प्रत्येक कार्यालय, आवास, स्थान, विद्यालय में यहाँ एक छोटा मंदिर बना होगा जिसे चाओथी कहते हैं। यहाँ नमन करने के उपरांत ही लोग अपना कार्य आरंभ करते हैं। राजधानी बैंकोक में शाही नौसेना के इंटर नेशनल होटल 'इरावन' के प्रवेश द्वार पर चतुर्मुखी ब्रह्मा की भव्य मूर्ति स्थापित ही नहीं पूजित भी है।

नखोन पंथाम नगर के राजोधाम में १२ फुट ऊँचे चबूतरे पर विनायक गणेश की विशाल-काय और अत्यंत भव्य प्रतिमा स्थापित है। यहाँ कोई पुजारी तो नहीं रहता, पर प्रातःकाल यहाँ जो पुष्ट बिखरे मिलते हैं, उनसे यह सहज ही जाना जा सकता है कि वहाँ के लोग उन प्रतिमाओं के श्रद्धापूर्वक नमन-पूजन करते हैं।

थाईलैंड का राजवंश अपने को राम का वंशज मानता है और उसे वहाँ 'रामाधिपति' कहकर पुकारा जाता था। सन् १३५० में वहाँ का शासक 'राम' नाम से विख्यात था। उसने अयोध्या नामक राज्य की स्थापना की। यहाँ के राज मंदिर की दीवारों पर रामायण की कथाएँ खुदी हुई हैं। उत्तरी थाईलैंड में लवकुशपुरी नामक नगर अभी भी विद्यमान है।

थाईलैंड उच्च न्यायालय के सामने गंगाधर महादेव की और आकाशवाणी केंद्र के मुख्य द्वार पर बीणा-पाणी सरस्वती की विशालयकाय प्रतिमा स्थापित हैं।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २८१

राजकीय-संग्रहालय के द्वार पर धनुर्धारी राम की विशाल प्रतिमा खड़ी है। इस देश के संग्रहालयों में शेषशायी विष्णु, शिव-झलग, ऋषि प्रतिमाएँ कितने ही आकार प्रकार की विद्यमान हैं।

वैशाखी पूर्णिमा को यहाँ बुद्ध जयंती के उपलक्ष में दिवाली मनाई जाती है। मृत-पूर्वजों की आत्मा को शांति देने के लिए यहाँ श्राद्ध भी इसी दिन किए जाते हैं। मृतकों के नाम पर भिक्षुओं को भोजन कराया जाता है। संक्राति पर्व, वर्षा व्रत, चंद्र-ग्रहण आदि अवतारों पर पर्वोत्सव मनाए जाते हैं। राजा को वर्ष में एक दिन स्वयं हल चलाकर अपने को सामान्य कृषक वर्ग की श्रेणी का सिद्ध करना पड़ता है।

बच्चों का मुंडन संस्कार स्याम में भी भारत की ही तरह होता है। इसे 'चूड़ा कृतन मंगल' कहते हैं। इसके अतिरिक्त नामकरण, कर्णविध, विवाह, अंत्येष्टि आदि संस्कारों में भी भारतीयता का प्रत्यक्ष अनुकरण देखा जा सकता है। यहाँ मुर्दे जलाए जाते हैं।

उस देश में हिंदू-धर्म और बुद्ध-धर्म जिस सुंदर ढंग से मिले हैं, यदि वह प्रक्रिया अन्यत्र भी अपनाई जा सके तो सांस्कृतिक दृष्टि से आज का भारतीय दर्शन विश्व का सबसे बड़ा, सबसे प्रमुख, सबसे अधिक प्रचलित दर्शन कहलाने का अधिकारी बन सकता है। संप्रदायों के बीच विग्रह और विद्वेष उत्पन्न करने की अपेक्षा उनका समन्वय करने में ही लाभ है। यह तथ्य भी हम थाईलैंड में चल रहे प्रयोगों को देख कर सीख सकते हैं। श्रेष्ठता जहाँ भी मिले, ग्रहण कर ली जाए और जो असामयिक है—आज की स्थिति में अनुपयुक्त है, उसके लिए दुराग्रह न किया जाए तो धर्मों का समन्वय एक गुलदस्ते की तरह संसार की शोभा और शालीनता बढ़ाने में सहायक हो सकता है।

इन दिनों थाईलैंड में बौद्ध धर्मानुयायी ही राजा है और उसी धर्म को मानने वाली अधिकांश प्रजा है। इस छोटे-से देश में पिछली जनगणना के अनुसार एक लाख तीस हजार भिक्षु थे और

१६५०३ मठ, मंदिर और बुद्ध-विहार। इतने छोटे देश में इतने अधिक देवस्थानों और साधुओं का होना आश्चर्यजनक है। यह संख्या तो भारत की स्थिति से भी आगे बढ़ी-चढ़ी है। इससे यह आशंका होती है कि उस देश की जनता को भी हमारी ही तरह निठल्लों को खिलाने का भारवहन करना पड़ता होगा और आर्थिक दृष्टि से उस देश पर भारी दबाव पड़ता होगा।

पर वहाँ की वस्तुस्तिथि सर्वथा भिन्न है। वहाँ समय-गत भिक्षु दीक्षा लेने की प्रथा है। थोड़े समय के लिए लोग भिक्षु बनते हैं और फिर अपने सामान्य सांसारिक जीवन में लौटे आते हैं। थाईलैंड के प्रत्येक बौद्ध धर्मानुयायी का विश्वास है कि 'एक बार भिक्षु बने बिना उसकी सद्गति नहीं हो सकती। उसके बिना उसकी धार्मिकता अधूरी ही रहेगी। इस आस्था के कारण देर-सवेर में हर सुयोग्य नागरिक एक बार कुछ समय के लिए साधु अवश्य बनता है। घर छोड़कर उतने समय विहार में निवास करता है। साधना और अध्ययन में निरत रहता है और संघ द्वारा निर्धारित सेवा-कार्य में सच्चे मन से पूरा परिश्रम करता है। भिक्षु का मोटा अर्थ भिक्षुक या भिखारी जैसा लगता है, पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। बौद्ध धर्म में साधु को, धर्म-प्रचारक को भिक्षु कहते हैं। अवसर पड़ने पर उसे भिक्षा द्वारा क्षुधा शांत करने में भी आपत्ति नहीं हो सकती, पर यह आवश्यक नहीं कि भिक्षु नामधारी को अनिवार्य रूप से भिक्षा ही माँगनी पड़े। भिक्षुक और भिक्षु दो अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त होते रहते हैं। भिक्षुक दीन-हीन, अपांग, असहाय व्यक्ति को-उदर निमित्त याचना करने वाले को कहते हैं। जबकि भिक्षु विशुद्ध रूप से संत के अर्थ में प्रयुक्त होता है। थाईलैंड निवासी भिक्षुक नहीं भिक्षु होते हैं। दूसरे अर्थों में उन्हें साधना, स्वाध्याय संयम और सेवा के चतुर्विध परमार्थ प्रयोजनों में निरत परमार्थ परायण व्यक्ति कहना चाहिए। ऐसे लोग जितने अधिक किसी देश में होंगे, वह उतना ही अधिक फूलेगा-फलेगा।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २८३

थाईलैंड में धर्म-आस्था अन्य देशों की तरह डगमगाई नहीं है। वहाँ के नागरिकों को अभी भी प्राचीनकाल के धर्मनिष्ठ और कर्तव्य परायण लोगों की तरह जीवन यापन करते हुए देखा जा सकता है, इसका श्रेय वहाँ के समर्थ साधु-समाज को ही दिया जा सकता है। मंदिर वहाँ पूजा-स्थल तो हैं, पर उनका उपयोग मात्र उतने ही सीमित प्रयोजन के लिए नहीं होता। प्रत्येक विहार में वहाँ एक साधन संपन्न विद्यालय भी होता है, जिसमें न केवल छात्र-छात्राओं को सामान्य शिक्षा दी जाती है, वरन् उच्चस्तरीय धर्म शिक्षा की भी व्यवस्था रहती है। प्रत्येक विहार में एक अच्छा पुस्तकालय होता है, जिसमें धार्मिक जीवन जी सकने की प्रेरणा दे सकने वाली चुनी हुई पुस्तकें पर्याप्त संख्या में रखी जाती हैं।

स्कूलों में शिक्षा का कार्य बुद्ध-प्रार्थना के साथ आरंभ होता है। गुरु-पूर्णिमा का उत्सव शिक्षा-संस्थाएँ मनाती हैं, जिनमें छात्रों द्वारा अध्यापकों को श्रद्धासिक्त पुष्टिंजलि भेंट की जाती हैं। प्राथमिक-शिक्षा से लेकर विश्व विद्यालय की उच्च शिक्षा तक का माध्यम वहाँ थाई भाषा ही है। विदेशी-भाषाओं को यहाँ शिक्षा-माध्यम में स्थान नहीं दिया गया है। बी०ए० उपाधि को वहाँ 'पंडित' और एम०ए० उपाधि को 'महापंडित' शब्द के साथ संबंधित करते हैं।

जनता अपनी धर्म आस्था की अभिव्यक्ति एक बार अनिवार्य रूप से भिक्षु-दीक्षा लेकर व्यक्त करती है। बुद्धसंघ उस श्रद्धा का सदुपयोग करता है-व्यवस्थित, नियंत्रित एवं परिष्कृत करता है। साथ ही ऐसी योजनाएँ बनाकर तैयार रखता है, जिसके अनुसार उस धर्म-प्रेरणा को उपयोगी कार्यों में संलग्न किया जा सके। अनेकों सृजनात्मक योजनाएँ तैयार रहती हैं, उन्हें पूरा करने के लिए विहार में प्रविष्ट भिक्षुओं को लगा दिया जाता है। उनके श्रम, ज्ञान एवं मनोयोग का समन्वित उपयोग मिलने से अनेकों उपयोगी योजनाएँ बिना किसी अतिरिक्त खर्च के सहज ही चलती

रहती हैं। सुयोग्य व्यक्ति बिना किसी पारिश्रमिक के यदि रचनात्मक कार्यों में लगेंगे तो उस देश में बहुमुखी प्रगति की बाढ़ आएगी ही। इस दिशा में थाईलैंड की बुद्ध संस्था बहुत सजग है, वह किसी भी भिक्षु को उच्छृंखल, अनियंत्रित नहीं होने देती। हर किसी को पूर्ण अनुशासन में रहना पड़ता है। यदि भारत की तरह वहाँ के भिक्षु स्वेच्छाचारी बन जाएँ और अनियंत्रित साँड़ की तरह विचरें तो इस छोटे से देश की इतनी बड़ी भिक्षु-संख्या देखते-देखते टिहड़ी दल की तरह सारी समृद्धि को चट करके रख दे। पर वहाँ की दूरदर्शी धर्म-संस्थाएँ वैसा होने नहीं देतीं। अनुशासन और धर्म-परायणता को वहाँ परस्पर पूर्णतया समन्वित बनाने का सफल प्रयोग किया गया है।

इस दिशा में राजकीय सहयोग भी पूरा है। राज्यकोष से मठों को मुक्त हस्त से सहायता दी जाती है, साथ ही उनकी गतिविधियों पर नियंत्रण भी रखा जाता है। धर्मसंघ में शासन के प्रतिनिधि भी सम्मिलित रहते हैं। वे धर्म-प्रसंग में तो हस्तक्षेप नहीं करते, पर यह अवश्य ध्यान रखते हैं कि जनता के दिए हुए तथा शासन से मिले धन का उपयोगी प्रयोजनों में ही खर्च किया जाता है या नहीं? कहीं अपव्यय तो नहीं होता?

थाईलैंड कृषि-प्रधान देश है। वहाँ ८४ प्रतिशत लोग खेती करते हैं, पर वे अत्यंत कर्मठ, पुरुषार्थी, शांति-प्रिय और धर्म-परायण लोग हैं। परस्पर मिल-जुल कर रहना और हँसी-खुशी की जिंदगी जीना उन्होंने धर्म संस्था से सीखा है। भिक्षु-सेना ने उन्हें अनेकानेक सदगुण सिखाए हैं और परिष्कृत स्तर का जीवन किस तरह जिया जा सकता है, यह बताया है। इस प्रशिक्षण से न केवल उनकी विचार पद्धति ऊँची उठी है वरन् भौतिक समृद्धि भी बड़ी है। यह आश्चर्यजनक प्रसंग है कि एशिया के किसी भी देश की अपेक्षा थाईलैंड निवासियों की औसत आमदनी कहीं अधिक है। वे सुसंपन्न हैं। उस देश की विदेशी मुद्रा बहुत मजबूत है। स्वर्ण

कोष की दृष्टि से थाईलैंड की साख और थाक संसार के आर्थिक क्षेत्र में मानी जाती है। धर्म-समन्वय, रक्त-समन्वय उस देश की अपनी विशेषता है। इसके अतिरिक्त सीमित समय के लिए साधुदीक्षा लेने वाली पद्धति और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है। इन सब बातों ने उस छोटे से देश को अपने ढंग की अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रगति करने का अवसर दिया है।

स्याम (थाईलैंड) में भारतीयों की महत्त्वपूर्ण हलचलों का विवरण दक्षिण के तिरुवलम में उपलब्ध एक लेख से चलता है। उन दिनों वैष्णव धर्मावलंबी मणिग्रामम संघ के सदस्य स्याम जाकर रहने लगे थे। तेरहवीं सदी तक स्याम कंबोडिया का ही एक अंग था, उसकी स्वतंत्रता राजा इंद्रादित्य के द्वारा संभव हुई। वे १२१८ में सिंहासनारूढ़ हुए। इसके बाद राम राजा-सूर्य वंश राम, रामाधिपति राज, वर धीर राजा, महा महिन्त आदि उत्तराधिकारी होते रहे। इस बीच उस देश पर वर्मा के राजा आक्रमण करने लगे थे। सन् १५१० में इंद्रराजा का शासन था। वर्मा, फ्रेंच, अँगरेज इस क्षेत्र में तरह-तरह के बुद्धयंत्रों के साथ आधिपत्य जमाते रहे तो भी राजतंत्र किसी प्रकार चलता रहा। १८६८ से १९११ तक चूड़ालंकार राजा का शासन था। सन् १९११ से १९२६ तक वाजीरा बुध नामक राजा रहा। इसे भी 'राम' की उपाधि प्राप्त थी। यह स्याम की शासन परंपरा में छठा 'राम' था। यों यहाँ बौद्ध धर्म सन् ४२२ में ही पहुँच गया था पर तेरहवीं सदी तक प्रमुखता ब्राह्मण धर्म की ही रही। स्याम बहुत समय तक कंबोडिया के शासन के अंतर्गत ही था इसलिए स्वभावतः उस क्षेत्र की प्रजा पर शैव शासन का प्रभाव बना रहा। राजा धर्मशोक ने स्याम में एक भव्य विष्णु मंदिर बनाया था। इसी प्रकार अन्यान्य राजा अपने कृति स्मृति के लिए कई-कई मंदिर बनाते रहे, जिनके भग्नावशेष अब तक उस क्षेत्र में जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हैं। जो बने हुए हैं उनमें देव पूजा अभी भी प्रचलित है। फ्रोके के शिव मंदिर में अभी भी श्रद्धांपूर्वक पूजा होती है। ब्राह्मण वर्ग का अस्तित्व

अभी भी यहाँ है। ब्राह्मण को ब्रह्म, ब्रह्म को 'फ्रम' कहने की अपश्रंश परंपरा चली। फ्रम जाति के लोग ही यहाँ कर्मकांड कराते हैं और पवित्र माने जाते हैं। देव नगर तो इन्हीं की बस्ती है। इन लोगों के आचार व्यवहार में ब्राह्मण परंपराओं का दर्शन अभी भी किया जा सकता है।

थाईलैंड के वर्तमान राजगुरु भारतीय मूल के ब्राह्मण हैं। शिखा, यज्ञोपवीत, धोती धारण करने वाले वासुदेव मुनि के पूर्वज अब से एक हजार वर्ष पूर्व दक्षिण भारत से उस देश में पहुँचे थे। तत्कालीन शासकों के बे राजगुरु थे। पीछे वही पद उनके वंशजों को मिलता चला आया।

यों उस देश के वर्तमान शासक भी अपने पूर्वजों की तरह ही बौद्ध धर्म मानते हैं। फिर भी उनने ब्राह्मण धर्म के प्रति सहिष्णुता और समन्वय की नीति अपनाई और कट्टर ब्राह्मण धर्मों पुरोहितों को राज्य गुरु मानने में कोई आपत्ति नहीं की। राज्य कोष से इन राजगुरु को आजीविका मिलती है। उन्हीं के परिवार के १० अन्य ब्राह्मण भी हैं जो मंत्र विद्या एवं कर्मकांड विधान के जानकार हैं। उन्हें भी राजकोष से वृत्ति मिलती हैं। इन लोगों को विशेष आचरणों का पालन करना पड़ता है। बे मांस नहीं खाते।

राजकीय धर्म-कृत्यों की व्यवस्था यही मंडली कराती है। यह सभी ब्राह्मण, शिखा, यज्ञोपवीत से युक्त धोती परिधान धारण करने वाले होते हैं।

राजगुरु का अपना मंदिर है, जिसे 'देवस्थान' कहा जाता है। विष्णु, गणेश, शिव, इंद्र, सूर्य, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी की मूर्तियाँ इसमें स्थापित हैं। साथ ही भगवान् बुद्ध देव भी वहीं उच्च आसन पर विराजमान हैं।

थाईलैंड में रामायण कथा बहुत लोकप्रिय है। वहाँ के निवासियों का विश्वास है कि वह घटनाक्रम उन्हीं के देश में संपन्न हुआ था।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २८७

रामायण की नृत्य नाटिकाएँ बहुधा आयोजित होती रहती हैं और उनमें जनता बहुत रुचि पूर्वक भाग लेती है।

थाई भाषा की एक पुस्तक है—“बाली की भाई को शिक्षा”। यह कर्तव्य पालन और नीति निष्ठा की आदर्श पुस्तक है। बालि ने अपने भाई सुग्रीव को जो धर्म-नीति सिखाई उसी का इसमें वर्णन है। इसे प्रायः स्कूलों में पढ़ाया जाता है।

स्याम का प्राचीन साहित्य रामायण, महाभारत आदि भारतीय धर्म ग्रंथों की अनुकृति है। बौद्ध धर्म के प्रवेश के बाद वहाँ बौद्ध साहित्य स्यामी भाषा में प्रचुर परिमाण में छपा है। स्यामी भाषा में संस्कृत शब्दों की भरमार है। प्राचीन काल के शिलालेख संस्कृत भाषा में पाए गए हैं। इससे पता चलता है कि वहाँ किसी समय संस्कृत की ही प्रधानता रही है। यों वहाँ सर्वत्र देव मंदिरों के ध्वंशावशेष बिखरे पड़े हैं, पर इनमें ‘लोफ बुरि’ विशेष रूप से दर्शनीय है। जीवित प्राचीन धर्मस्थानों में ऐसे भी कितने ही हैं जो पहले हिंदू मंदिर थे, पीछे उन्हें बौद्ध मंदिरों में बदल दिया गया।

स्याम (थाईलैंड) पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथ में से कुछ के नाम यह हैं—(१) ए हिस्ट्री ऑफ स्याम फ्राम दी अर्लिएस्ट टाइम (२) ए सेलेमनी कृत-स्कलप्वर इन स्याम (३) सरजान मार्शल कृत-बुद्धिस्ट आर्ट इन स्याम (४) मजूमदार कृत-इंडियन कोलोनाइजेशन इन स्याम (५) नीलकंठ शास्त्री कृत-साउथ इंडिया इन्फ्लुएन्सेंस इन फार ईस्ट।

सामान्य आबादी वाला यह देश वर्षा की दृष्टि से बहुत ही प्रभावशाली है। वह कृषि प्रधान देश है। ८४ प्रतिशत लोग खेती करते हैं। वहाँ की औसत आय एशिया के किसी भी देश से ज्यादा है। विदेशी मुद्रा एवं स्वर्ण भंडार से थाईलैंड की आर्थिक साख बहुत ही मजबूत मानी जाती है।



मलेशिया और सिंगापुर

वर्तमान मलेशिया छः हजार द्वीपों का एक समूह है जिसमें प्रधानतया मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो और सेलेबीज आते हैं। प्राचीन समय में वर्मा से लेकर मलेशिया का यह सारा क्षेत्र भी भारत में 'स्वर्णद्वीप' या स्वर्णभूमि के नाम से पुकारा जाता था। अरब इतिहासकारों ने भी इस क्षेत्र को स्वर्णद्वीप ही माना है। अलबरूनी, इब्न, रुईद-फरिन्द के ग्रंथों में यही नाम दिया गया है।

जातक ग्रंथों तथा कथा साहित्यसार, कथाकोष आदि में इस सुवर्णद्वीप की तत्कालीन स्थिति का सुविस्तृत वर्णन है। वर्तमान जावा प्राचीन समय में यवद्वीप कहा जाता था। इस क्षेत्र को बसाने वाले लोगों को इतिहासकारों ने 'इंडोनेशियन' कहा है। उनकी आकृति-प्रकृति का जिस प्रकार वर्णन किया जाता है उसे देखते हुए उन्हें भारतीय मानने में कोई संकोच नहीं रह जाता।

मलेशिया क्षेत्र में ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में हिंदू धर्म पहुँचा और सातवीं सदी तक निर्बाध गति से फैलता और बढ़ता रहा। उस क्षेत्र में मिले ध्वंसावशेष और शिलालेख इस तथ्य की परिपूर्ण पुष्टि करते हैं। फाहियान के अनुसार उस क्षेत्र पर हिंदू धर्म का भारी प्रभाव था। चीनी यात्री ईच्च चिंग के समय तक वहाँ उस क्षेत्र के दस राजा बौद्ध धर्मानुयायी बन चुके थे और प्रजा ने इस धर्म को भली प्रकार अंगीकार कर लिया था। नालंदा विश्व विद्यालय के आचार्य धर्मपाल तथा विष्णु वज्रबोधि के प्रयास से इस सारे क्षेत्र में बौद्ध धर्म का विस्तार द्वुत गति से हुआ था। चीनी विवरणों के अनुसार इस क्षेत्र में भारतीयों के आवागमन की भारी भीड़ बनी

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २८९

रहती थी और हजारों यात्री हर रोज यहाँ से वहाँ आया-जाया करते थे।

चीन के 'लेग वंशीय' विवरण के आधार पर यह पता लगा है कि मलाया के राजा भगदत्त ने सन् ५१५ में अपना राजदूत 'आदित्य' चीन भेजा था और उसके हाथों एक पत्र सहित ४१ उपहार वस्तुएँ चीन पहुँचाई थीं। इसके बाद के राजाओं के नाम के साथ 'वर्मा' शब्द जुड़ा होता है। यह सिद्ध करता है कि वह क्षेत्र हिंदू राजाओं के हाथों में रहा है। चीनी इतिहास में एक उल्लेख यह भी है कि चीन सप्राट हाई टू (४५४-६५) के समक्ष मलाया के राजा श्रीवर नरेंद्र ने अपने संदेश वाहक 'रुद्र' के हाथों कुछ उपहार भेजे थे। यह नाम हिंदू धर्मानुयायियों के ही हो सकते हैं। इस क्षेत्र के 'सुनगई वतु' में तथा 'फलों' पर्वत पर जो प्राचीन आदेश एवं शिलालेख मिले हैं उनसे स्पष्ट होता है कि वहाँ हिंदू राज्य था और संस्कृत भाषा प्रयुक्त होती थी। यह अवशेष चौथी-पाँचवीं शताब्दी के हैं।

मलाया और जावा की बनी हुई भारतीय देवमूर्तियाँ पीरू और मैक्सिको तक मिलती हैं। मलायी भाषा में संस्कृत के हजारों शब्द मौजूद हैं। यों पंद्रहवीं सदी में अरबों से पराजित होने पर मलाया निवासियों को इस्लाम स्वीकार करना पड़ा, फिर भी अब तक उस देश के निवासियों के नाम हिंदू नामों से मिलते-जुलते पाए जाते हैं। प्राचीन काल के राजाओं के नाम-भूमिपाल, आनंद मही, नरोत्तम वर्मन, जय वर्मन, इंद्र वर्मन आदि होना इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है कि इस देश पर हिंदू सभ्यता की गहरी धाक थी।

यूनान के भूगोल वेत्ता पाटोलेमी ने मलाया आदि भारत के सारे देशों का उल्लेख 'इंडिया वियांड दि गेंगेज' अर्थात् गंगा पार का भारत का नाम देकर किया है। किसी समय में यह देश भारतीय धर्म के अंतर्गत ही था। अभी भी वहाँ पर लगभग आठ लाख भारतीय मौजूद हैं जो वहाँ की जनता के १५ प्रतिशत हैं। आधे से अधिक मलायी किसी समय के भारतीय ही हैं।

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २९०

प्रख्यात इतिहास वेसा सिलवियन लेवी ने लिखा है इराक से लेकर चीन सागर तक और प्रशांत महासागर के द्वीपों से लेकर आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर स्थित 'कोमा' द्वीप तक भारत ने मानव जाति की एक चौथाई जनसंख्या को पिछली शताब्दियों में प्रभावित किया है।

चौथी सदी में भारतीयों की अनेक बस्तियाँ मलाया में बसी हुई थीं, इनमें से बड़ी बस्तियाँ चुन फान, काया, नाटवान, धम्मरत, श्रीमान याला, सीलिन सिंग, मलवका, वेलेजली, टकुआ, लानया नाम से प्रख्यात थीं। इन क्षेत्रों की खुदाई में जो सामिग्री मिली है उससे पता चलता है कि पल्लव और चोल वंश के राजाओं का इस क्षेत्र पर शासन था। इन राजाओं में राजेन्द्र का प्रभुत्व था। तब हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म का भी यहाँ भारी प्रसार था।

भारतीयों को मलय प्रायद्वीप के संबंध में जानकारी अति प्राचीन काल, संभवतः ईसायुग के पूर्व से अवश्य ही थी। हिंदुओं ने मलय प्रायद्वीप में कई राज्यों की स्थापना की थी, जिनमें से कुछ दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में कायम हुए थे। इसके संबंध में चीनी विवरण प्राप्त है। इसके अतिरिक्त 'पान-पन' 'फुनन' कमलंका, कलसपुर, कल (केदाह) तथा 'पांग' हिंदू राज्य थे।

मलय प्रायद्वीप में यद्यपि प्राचीन हिंदू सभ्यता एवं संस्कृति के वास्तविक अवशेष कम मात्रा में प्राप्त हैं, फिर भी उनका बिलकुल अभाव नहीं है। गनांग जेराई (केदाह शिखर) पर्वत की तलहटी में सुंगइबूर राज्य में एक हिंदू मंदिर तथा कुछ पाषाण मूर्तियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसी क्षेत्र के केदाह में ईटों से बना हुआ बौद्ध मंदिर का अवशेष प्राप्त हुआ है। संभवतः यह अवशेष चौथी अथवा ५वीं शताब्दी ईस्वी का है। इसकी जानकारी उक्त अवशेष के साथ प्राप्त शिलालेखों से होती है। इसी तरह मलाया के उत्तरी भाग में स्थित वेलेसली प्रांत में कुछ बौद्ध मंदिरों के खंभों के ध्वंशावशेष प्राप्त हुए हैं। ये भी ४थी और ५वीं शताब्दी ईस्वी के हैं।

समस्त विश्व को भारत के अजन्म अनुदान / २११

जिसकी जानकारी इन पर की हुई खुदाई से होती है। सेलेन्सिंग (पेरेक) क्षेत्र में सोने का एक आभूषण, जिस पर गरुड़ पर आसीन विष्णु का चित्र अंकित है, प्राप्त हुआ है और इसके साथ ही एक गड्ढा, जो कि एक गिरे हुए वृक्ष के जड़ से उखड़ जाने से बन गया था, में से एक 'कारनेलियन सील' प्राप्त हुआ है, जिस पर 'श्रीविष्णु वर्मन का नाम ५वीं शताब्दी ईस्वी की लिपि में खुदा हुआ था।'

तकुअ-प (जिसे पटोलेमी ने 'टकोला' प्राचीन प्रसिद्ध बंदरगाह बतलाया है) के चारों ओर के क्षेत्र में मंदिरों एवं सुंदर मूर्तियों के ध्वंशावशेष कायम हैं। पूर्वी समुद्र टट पर बंदोन की खाड़ी के चारों तरफ ४थी या ५वीं शताब्दी ईस्वी काल की प्राचीन बस्तियाँ (नगरों) के खंडहर, विशेषकर प्रसिद्ध क्षेत्र सिया, नखोन, श्रीधम्मरत एवं भींग श्री में मौजूद हैं। इस क्षेत्र (भिगोर) की मूर्तियाँ एवं मंदिर कुछ बाद के काल हो सकते हैं, पर 'लिगोर' और 'तकुअ-पा' तथा 'सिया' के पाषाण खंभों में प्राप्त शिलालेखों से यह प्रकट होता है कि बस्तियाँ ४थी अथवा ५वीं शताब्दी ईस्वी के बाद की नहीं हैं।

मलय देश के विभिन्न भागों में बड़ी संख्या में जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं वे संस्कृत भाषा में तथा करीब ४थी या ५वीं शताब्दी ईस्वी में प्रचलित भारतीय अक्षरों में लिखे हुए हैं। उनमें से दो शिलालेखों में बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जो कि यह सिद्ध करता है कि उस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार था। केदाह के पास एक मिट्टी की तख्ती प्राप्त हुई है, जिस पर संस्कृत भाषा में तीन पद खुदे हुए हैं। ये संस्कृत पद संभवतः महायान माध्यमिक शाखा के स्तोत्र के अंश हैं। उनमें तीनों संस्कृत पद जो कि महायान शाखा के दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं, 'सागरमति परिप्रिद्दहा' के चीनी अनुवाद में उपलब्ध हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि मलय में छठवीं शताब्दी ईस्वी में या उसके पूर्व से महायान बौद्ध धर्म प्रचलित

था। मलय प्रायद्वीप में बड़ी संख्या में प्राप्त शिलालेखों से यह स्पष्ट रूप में प्रकट है कि भारतीयों ने ४थी या ५वीं शताब्दी ईस्वी तक में मलय के उत्तरी, पश्चिमी तथा पूर्वी भागों में हिंदू राज्य कायम किया था और ये भारतीय उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के रहने वाले थे। इन शिलालेखों में से एक शिलालेख में नाविक 'बुद्धगुप्त' के बारे में उल्लेख है जो कि रक्तमृतिका का रहने वाला था। रक्तमृतिका (लाल मिट्टी) बंगाल में मुर्शिदाबाद से १२ मील दक्षिण में स्थित 'रंगमाटी' ही है।

मलय में भारतीय संस्कृति के प्रसार पर प्रकाश डालने वाले उपलब्ध साहित्यिक प्रमाण की पुष्टि, मलय प्रायद्वीप में प्राप्त पुरातत्वीय अवशेषों से होती है।

ट्वकोल-आधुनिक तकुअ-प भारतीय यात्रियों का मलय में उतरने का प्रथम स्थान था, जहाँ से कुछ यात्री पर्वतों को पार कर बंदोन की खाड़ी मैदानी क्षेत्र में पहुँचे थे। यहाँ के भारतीय यात्री भूमि अथवा समुद्री मार्ग से स्याम, कंबोडिया अन्नम, (चंपा) और सुदूर पूर्व के देशों में जा सकते थे। इस भूमि मार्ग पर प्राचीन भारतीय बस्तियों के खंडहर कायम हैं। दूसरा समुद्री मार्ग भी बहुत लोकप्रिय था और इसका बहुत उपयोग भी होता था। इस तथ्य की जानकारी बैलेसली प्रांत में उपलब्ध पुरातत्वीय अवशेषों से होती है। मलय प्रायद्वीप सुदूर पूर्व के भारतीय राज्यों तक पहुँचने के लिए मुख्य द्वार था।

मलय प्रायद्वीप में पुरातत्वीय खोज दल की रिपोर्ट हिंदू उपनिवेशीकरण के संबंध में निम्नलिखित है-

'इन उपनिवेशों की संख्या बहुत थी और ये दूरस्थ केंद्रों जैसे पूर्वी तट में स्थित चुभफोन, सिया बंदोन नदी की घाटी, नरवोन श्री धम्मरत लिंगोर मल (पटनी के पास) और सेलेनसिंग (पेहंग में) और पश्चिम तट में स्थित मलकका, बैलेसली प्रांत, तकुअ-पा और लनय, एवं टनस्सेरिम, नदियों के पश्चिमी तट में बसे हुए थे। इन

सबों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण नरवोन धम्मरत (लिगोर) था। यह वास्तविक रूप में एक बौद्ध उपनिवेश था जिसने संभवतः नरवोन श्रीधम्मरत का विशाल स्तूप निर्माण करवाया था और साथ ही ५० मंदिरों का एक हिस्सा भी बनवाया था जो कि इस स्तूप के चारों ओर बने हुए हैं। इसके थोड़ा उत्तर में 'सिया' उपनिवेश स्थित था, जहाँ पहिले ब्राह्मण धर्म और बाद में बौद्ध धर्म प्रचलित था।

प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह मान्यता सही है कि बंदोन की खाड़ी के चारों तरफ के क्षेत्र से भारतीय संस्कृति का प्रसार सुदूरपूर्व के देशों में होता रहा। मलय द्वीप के पश्चिमी टट पर टकुआ-पा के पास सामान्यतः भारतीय रंग रूप के लोग अभी भी पाए जाते हैं। नरवोन श्रीधम्मरत और पतलंग स्थानों पर भी अभी भारतीय वंशज ब्राह्मणों का समाज रहता है, जो कि यह मानता है कि 'उनके पूर्वज भूमि मार्ग से मलय द्वीप में भारत से आए थे।'

मलाया में यों इस्लाम धर्म के अनुयायियों का बाहुल्य है। वहाँ के सप्तांश सुल्तान कहलाते हैं। सुल्तान के नाम के साथ जुड़ने वाली अनेक उपाधियों में से एक 'श्री पाटुका' भी है। जिस प्रकार भरतजी राम की चरण पाटुकाओं को अयोध्या के शासन का स्वामी मानते थे और अपने को कार्यवाहक मात्र कहते थे, उसी प्रकार सुल्तान भी राजगद्दी का स्वामी भगवान को मानकर कार्य संचालन करते हैं। यह मर्यादा 'श्रीपाटुका' उपाधि में है।

मलाया के मुसलमानों में निकाह तो इस्लामी विधान के साथ ही होता है पर उस अवसर पर रामायण या महाभारत का कोई अभिनय अवश्य किया जाता है। यदि वैसा न किया जाए तो निकाह पूरा हुआ नहीं माना जाएगा।

यहाँ के इस्लाम धर्मानुयायियों पर भी हिंदू धर्म की छाप अभी भी दृष्टिगोचर होती है। स्त्रियों में पर्दा बिलकुल नहीं है। ये कठोर श्रम करती हैं। गृह व्यवस्था को भली प्रकार सँभालती हैं और उपार्जन में भी पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर चलती हैं। इस देश

में जुकस, समांग, सारेसा नामक आदिवासी जातियाँ भी हैं जो प्रायः जंगलों में रहती हैं। इनकी संख्या अब मात्र ३० हजार रह गई है और निरंतर घटती ही जाती है।

मलाया में ११ प्रतिशत भारतीय, ४४ प्रतिशत मलायी और ३९ प्रतिशत चीनी हैं। रबड़ तथा खनिज पदार्थ की यहाँ अच्छी पैदावार है। मौसम यहाँ काश्मीर जैसा सुहावना रहता है। वर्षा बहुत होती है। जमीन उपजाऊ और हरी-भरी है। गन्ना नारियल, अनन्नास के उत्पादन यहाँ से निर्यात किए जाते हैं। टीन, गटा पारचा, डेमाडरस, सेवियर आदि खनिज भी विदेशी मुद्रा उपार्जित करते हैं।

सन् १८२० में यहाँ अंग्रेजों ने अपना कब्जा जमाया और एक शताब्दी से अधिक यहाँ शासन करते रहे। ३१ अगस्त १९५७ को इस देश की जनता ने स्वतंत्रता प्राप्त करती ली। सिंगापुर, सारावान, उत्तरी बोर्नियो और मलाया को मिलाकर सितंबर ६१ से एक संघ बनाया गया जिसका नाम मलेशिया रखा गया। अब मलाया इसी संघ की एक इकाई है।

मलाया की अधिक प्रामाणिक जानकारी तथा उस क्षेत्र पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव का विवरण उपलब्ध करने के लिए इवान्स द्वारा संपादित-'पेपर्स ऑन दि एथनोलॉजी एंड आरकियालॉजी ऑफ दि मलय', जे० ट्वकुसु कृत-रिकार्ड ऑफ बुद्दिस्ट रिलीजन-इज प्रैविटस्ड इन इंडियन एंड दि मलाया, आर्चीफिलेगो और क्वारिच कृत-'आरकियोलोजिकल रिसर्चेज आग एन्सिएन्ट इंडियन कोलोनाइजेशन' पुस्तकें अधिक विस्तृत एवं प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत करती हैं।

एक विवरण ऐसा भी उपलब्ध है जिसके अनुसार सिंगापुर की स्थापना राजा दलपत सिंह ने की। तभी उनका नाम छांसंहपुरा रखा गया। पीछे बदल कर वह सिंगापुर हो गया। दक्षिणी पूर्वी एशिया का यह सबसे धनी नगर है। वहाँ का जीवन स्तर योरोप जैसा ऊँचा है। यहाँ के भारतीय श्रमिक अपनी ईमानदारी

और श्रमशीलता के कारण अभी भी सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।

सिंगापुर द्वीप का क्षेत्रफल २९२ वर्ग मील है। पहले उसमें दलदल और डाकुओं के अड़डे थे। सन् १८१९ में अंग्रजों ने उस पर कब्जा जमाया। सर रैफेल्स के तत्त्वावधान में उसकी सफाई और बसावट का कार्य किया गया। वहाँ चीनी, मलायी और भारतीयों का बाहुल्य है।

सिंगापुर में पर्याप्त संख्या में भारतीय रहते हैं। इनमें एक तिहाई श्रमिक, एक तिहाई दुकानदार और एक तिहाई उच्च सरकारी और गैर सरकारी नौकरियों में लगे हुए हैं और व्यापार करते हैं। अब यहाँ चीनी मूल के लोगों को भारी घुसपैठ हो गई है। उनकी संख्या ७० प्रतिशत तक जा पहुँची है और हिंदुस्तानी ४ प्रतिशत रह गए हैं।

यहाँ भारतीयों की लगभग दो दर्जन संस्थाएँ हैं जिनमें इंडियन चेम्बर ऑफ कामर्स प्रमुख है। ११ हिंदू और बौद्ध मंदिर, ४ गुरुद्वारे और लगभग १०० मस्जिदें हैं। कुल जनसंख्या २० लाख है। सिंगापुर के करोड़पतियों में भारतीयों की भी गणना है। रामकृष्ण मिशन यहाँ ५० वर्ष से काम कर रहा है। उसके दो भव्य मंदिर हैं। एक अस्पताल एक अनाथालय है। तमिल भाषा के दो स्कूल भी मिशन की ओर से चले रहे हैं। सिंगापुर में कस्टम इयूटी न लगने के कारण जापान तथा योरोप अमेरिका की वस्तुएँ बहुत सस्ती हैं।



पश्चिमी एशिया में भारतीय वर्चरत्व

पश्चिमी एशिया के इतिहास की विशद् गवेषणा करने वाले योरोपीय पुरातत्त्व विज्ञानी एच विलियाँ, परगिटर, स्टार्ना, ग्रीशमान, देरी डोरस आदि ने यह निष्कर्ष निकाला है कि किसी समय यह क्षेत्र भारतीय संस्कृति से प्रभावित था जिसे वहाँ तक भारतीय राजाओं तथा धर्म प्रचारकों ने पहुँचाया।

महमूद गजनवी के दरबारी लेखक अलबरूनी ने अपनी पुस्तक में ऐसे हवाले दिए हैं, जिनसे ईरान और भारत की घनिष्ठता सिद्ध होती है। प्राचीन अरब लेखक अल याकूबी ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

अलीगढ़ विश्व विद्यालय के प्रो० मकबूल अहमद ने अपनी भारत और अरब संबंधी पुस्तक में पश्चिमी एशिया के शासकों को भारतीय देवी-देवताओं की पूजा करने वाला लिखा है। उन्होंने यह भी लिखा है कि मेढ़ राजाओं ने ईसा से ७५० वर्ष पूर्व उत्तरी ईरान पर अधिकार किया, फिर उन्होंने यूनान और मिश्र पर अधिकार किया। इक्ष्वाकु के दामाद क्रुश का ईरान पर शासन था। जिस व्यक्ति को मिश्र का गर्वनर नियुक्त किया गया था उसका नाम आर्यन दास था।

प्रो० मैक्स मूलर ने अपनी 'साइन ऑफ लैंग्वेज' पुस्तक में लिखा है—“फारसी लोगों ने आर्य वंशी परंपराओं को अधिक सुरक्षित रखा है” ये लोग भारत के उत्तर पश्चिम भाग से चलकर फारस में बसे थे। उनके धर्म ग्रंथ जिंदावस्ता में भारतीय धर्म दर्शन ही भरा पड़ा है। सर विलियम जोन्स ने अपनी भाषा-शोध में इस

समस्त विश्व को भारत के अजस्त्र अनुदान / २१७

बात की चर्चा की है कि जिंद कोष में साठ-सत्तर फीसदी शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं।

यहूदी लोग अपने को 'युदा' की संतान कहते हैं। यह वस्तुतः यदुवंश का संकेत है। तातार लोग अपना आदि रूप 'अय' को मानते हैं। पुराणों के अनुसार राजा पुरुरवा का पुत्र 'अय' था। चीनियों के पुराण पुरुष 'हय हो' हय सम्राट यदु के पौत्र थे। राजा सगर के आदेश से जिस पल्ली नगर के बसाए जाने का पुराणों में उल्लेख मिलता है उस पल्ली स्थान की संगति वर्तमान फिलिस्तीन से ठीक प्रकार बैठ जाती है।

यहूदी धर्म की एक पुराण कथा के अनुसार पैगम्बर एजेकील, के समक्ष परमेश्वर ने गरुड़ पक्षी और सुदर्शन चक्र प्रकट किया था। यह विष्णु भगवान का प्रतीकात्मक उल्लेख है। पश्चिमी एशिया में ईराक और अफगानिस्तान ऐसे देश हैं जिनमें प्राचीनकाल में भारतीय संस्कृति की गहरी छाप रही है। इन देशों तक किसी जमाने में भारत की सीमाएँ फैली हुई थीं। दशवीं शताब्दी में अफगानिस्तान पर हिंदू राजा राज्य करते थे। डॉ० एडवर्ड डी० सचऊ द्वारा संपादित ग्रंथ 'अलबरूनी का भारत' में अफगानिस्तान की प्राचीन इमारतों का उल्लेख है, जिन्हें हिंदू राजाओं ने बनवाया था। काबुल में महानुभावों के तीन प्राचीन मंदिर अभी भी विद्यमान हैं। बामियान घाटी में एक चट्टान काटकर बनाई गई भगवान बुद्ध की एक विशाल प्रतिमा है। उसी क्षेत्र की पहाड़ियों में एलोरा, अजंता, करता और माजा जैसी सुंदर प्रतिमाएँ खुदी हुई मिलती हैं। यहाँ के एक पुराने नगर का नाम है 'नगर हर' अर्थात् शिवजी का नगर। अफगानिस्तान की भाषा पश्तो में संस्कृत शब्दों की भरमार है।

पिछले सत्तर वर्षों में पश्चिमी एशिया में जो पुरातत्त्व अनुसंधान हुआ है उससे प्रकट होता है कि इस क्षेत्र में दूर-दूर तक भारतीय सभ्यता के अवशेष बिखरे पड़े हैं। नार्वे के इतिहासवेत्ता

प्रो० नूडिटजन, जर्मन पुरातत्व खोजी प्रो० हुमा विंकला तथा प्रो० कर्टवेटल ने तुर्की का एक प्राचीन नगर हातुमा खोद निकाला जिसमें हिंदू मंदिरों के अवशेष तथा संस्कृत भाषा में खुदे कई शिलालेख मिले हैं। इन शिलालेखों में वहाँ पर खेत्री शासकों का उल्लेख है। इतिहास वेत्ता इस बात से सहमत हैं कि यह खेत्री शब्द भारत में प्रचलित क्षत्री शब्द का ही अपभ्रंश है। एक राजा का नाम था परशुराम। उसके बेटे का नाम था-लव वर्ण।

खुदाई से प्रमाण मिले हैं कि 'हातुमा' ई० पू० १७४० में आर्य देश के अंतर्गत था। इसमें प्राचीन काल के देव मंदिर मूर्तियाँ तथा पूजा उपकरण निकले हैं। इस नगर की आबादी उस समय २० हजार रही होगी। इमारतों पर भारतीय शिल्प की पूरी छाप है। इसी प्रकार १९३७ ई० की खुदाई में कुसारा नगर निकला तो उसमें भी इंद्र देवता की प्रतिमाएँ तथा अन्य भारतीय कलाकृतियाँ निकली।

उपलब्ध शिलालेखों में वहाँ ई० पू० १८०० में सिपात नामक भारतीय राजा के शासन की चर्चा है। उसी क्षेत्र में कोशी (काशी) के शिलालेखों से इतिहासकार आर० ग्रीशमान ने निष्कर्ष निकाला है कि ईरान के इस क्षेत्र में काश्यप ऋषि का वर्चस्व रहा है।

ईरान में सातवीं सदी में हर वामनी नामक कुरुकंशी राजा का राज्य था। तब उसका राज्य विस्तार भारत तक जुड़ा हुआ था। दारिय बाहु (डेरियस) नामक बादशाह अब से ढाई हजार वर्ष पूर्व हुआ है, उसका गहरा संबंध भारत के साथ था।

ईरान के पुरातन शासक पहलवी कहलाते थे। वे भारत के पल्लव राजवंश से थे। राजा लोग अपने नाम के आगे अभी शाह शब्द लगाते हैं। नेपाल के राजा 'राम शाह' हुए हैं। शाह शब्द भारतीय क्षत्रिय परिवार में प्रयुक्त होता रहा है। प्राचीन ईरान में अग्नि पूजा होती थी और हिंदू प्रथा परंपराएँ प्रचलित थीं। उस देश पर जब मुसलमानी आक्रमण हुए तो पारसी जाति के लोग वहाँ से भागकर भारत आए और यहाँ बस गए। पारसी

समाज में अग्नि पूजा अभी भी हिंदुओं के अग्निहोत्र की ही तरह प्रचलित है।

ईरान के धर्मोत्सवों में हिंदू परंपरा के कितने ही चिन्ह पाए जाते हैं। चंदन का उपयोग और चौक पूरना पूर्णतया भारतीय परंपरा के अनुरूप हैं। ईरानी भाषा में भी संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है।

इस्लाम स्वीकार करने से पूर्व ईरान में पारसी धर्म था और उनकी पुस्तक जिंदावस्ता रही है। छंद का अपभ्रंश है 'जिंद' और वेद का वेस्ता हुआ है। जिंदा अवस्ता अर्थात् वेद मंत्रों का संग्रह। 'जिंद' भाषा में दो तिहाई शब्द संस्कृत के हैं। इतिहासज्ञ डॉ० तारापोरवाला के अनुसार पारसी धर्म 'भाषा' में ऋग्वेद के ही भाव भेरे पड़े हैं। ईरानी जनता तब पुनर्जन्म पर विश्वास करती थी। श्रद्धपूर्वक अग्निहोत्र करती थी, पूजती थी और यज्ञोपवीत (कुशती) धारण करती थी। वहाँ भारतीय वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था।

ईरान में बसे हुए पारसी लोग वस्तुतः भारत से ही गए थे। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने इस तथ्य को स्वीकारा है और भारतीय मूल के, भारतीय सभ्यता के अनुयायी के रूप में प्रतिपादित किया है। नमः जरदुस्त पारसी धर्म ग्रंथ में महर्षि व्यास हैं। जरदुस्त के संवाद एवं विचार विनिमय का वर्णन है। धर्मग्रंथ जिंदावस्ता में अर्थवेद का उल्लेख है। उस देश में 'स' का उच्चारण 'ह' के रूप में होता रहा है। इस पृष्ठभूमि में देखा जाए तो पारसी धर्म में प्रचलित देवताओं तथा धर्म परंपराओं में भाव सादृश्य ही नहीं, शब्द सादृश्य भी दिखाई पड़ता है। कितने ही संस्कृत शब्द तो भारतीय और पारसी धर्म में समान अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। यथा इष्टि, गाथा, गंधर्व, पशु, गौ, इषु, रथ, नमस्ते यव वा आदि। कहीं-कहीं तो 'जिंदावस्ता,' का-'यथा' हिनोति एशं वाचम् संस्कृत का 'यथा शृणोति एतां वाचम्' में समानता है और विश्व दुःख जगैति वाक्य संस्कृत के विश्व दुःखो जिन्वति से मिलता-जुलता है। धर्म साहित्य में ऐसी भी समानतायें असाधारण रूप में देखी जा सकती हैं। सोम

पान संबंधी मान्यता दोनों देशों में समान है। हिंदू समाज में प्रचलित दर्शपोर्ण मासेष्टि यज्ञ, चातुर्मास्येष्टि यज्ञ, प्रयोति स्टोम यज्ञ आदि की प्रथा भी समान स्तर की है। पुनर्जन्म, कर्मफल, स्वर्ग-नरक, वर्ण व्यवस्था आदि मान्यताओं में भी साम्य है। पारसी धर्म और हिंदू धर्म की तुलनात्मक समीक्षा करने पर दोनों का पुरातन आधार एक ही केंद्र पर केंद्रित हुआ स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

हृदीसों में भारत को 'हिंदुस्तान जन्मत निशक' अर्थात् 'स्वर्ग तुल्य भारत' कहकर सम्मानित किया गया है। इन्हे जरीर, इन्हे अवी हतिम और हाकिम प्रभृति विद्वानों ने लिखा है—हजरत आदम ने स्वर्ग से धरती पर उतरने पर पहला कदम भारत के दक्षिणी भाग पर रखा था। इस क्षेत्र में पैदा होने वाले मसाले, सुगंधित द्रव्य, नीबू और केले हजरत आदम के साथ ही भारत में आए थे। 'सुवह तुल मरजान फी आरो रहिंदोस्तान' नामक ग्रंथ में कहा गया है कि हजरत आदम सबसे पहले हिंदोस्तान में उतरे और यहीं उन पर 'वही' (ईश्वरीय संदेश) उतरा।

'किताबुल अदुलि बुलमुरफरद' के लेखक इमाम बुखारी ने ऐसे कई प्रमाण दिए हैं जिसमें ईसाकी सातवीं शताब्दी में ईराक और अरब में जाटों की बहुत बड़ी संख्या मौजूद थी।

इस्लाम का ऐकेश्वरवाद का सिद्धांत व्यास के वेदांत सिद्धांत के प्रकाश में विकसित हुआ माना जाता है। सूफी संप्रदाय पर वेदांत की गहरी छाप है। अरबी में वेदपा का तात्पर्य 'वेद व्यास' को माना है और उन्हीं के महाभारत आदि पुराणों में वर्णित कथानकों एवं सिद्धांतों को 'वेदपा फिल हिकमत' अर्थात् वेदव्यास की बुद्धिमानी कह कर इंगित किया गया है।

अरबी में संस्कृत शब्दों की, उसके अपभ्रंशों की भरमार है। इस भाषा प्रभाव को देखने से प्रतीत होता है कि किसी समय उस क्षेत्र में संस्कृत का प्रचलन रहा होगा और स्थानीय भाषा के सम्मिश्रण से अरबी का वर्तमान स्वरूप विकसित हुआ होगा। अरब के

प्राचीन सहित्य में ऐसे अरबी अनुवादों की भरमार है जो भारत के ग्रंथों से अनुदित किए गए हैं। इन पुस्तकों में ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक पक्ष वाले भारतीय ग्रंथों का अनुवाद करके वहाँ के भाषा भंडार की श्री समृद्धि की गई है।

जिस प्रकार चीनी यात्री समय-समय पर यहाँ धर्म शिक्षा तथा ज्ञान संपदा संपादित करने के लिए आते रहे हैं उसी प्रकार अरब शिक्षार्थी भी भारत आए थे। अलबरूनी भारत में ४० वर्ष रहा। यहाँ उसने संस्कृत पढ़ी तथा संस्कृत का अध्ययन किया। उसने अपने अनुभवों को 'किताबुल हिंद' तथा 'कानून मस ऊदी' में उल्लेख किया है।

बसरा निवासी दार्शनिक जाहिज ने अपनी पुस्तक 'गोरी और काली', जातियों का तुलनात्मक अध्ययन' में भारतीय ज्ञान-विज्ञान और रहन-सहन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अरब इतिहासकार याकूबी ने भारत के हर क्षेत्र में बड़े-चढ़े ज्ञान की गरिमा को मुक्त कंठ से सराहा है।

अरबों ने अंकगणित भारत से सीखा इसलिए अंकों की हिंदसा कहा जाता है। भारतीय ग्रह गणित संबंधी ग्रंथों का अनुवाद भी अरबी में हुआ है। बृहस्पति सिद्धांत का, अस्सिद हिंद आर्य भट्ट का-आजवंद, खंडक खाद्यक का अरकंद-नाम से अनुवाद हुआ है, खलीफा मंसूर के समय से भारतीय ज्योतिषी की वहाँ के राज दरबार में नियुक्ति होती थी।

खलीफा मवपिफक विल्लाह अब्बासी ने एक दल भारत में चिकित्सा विज्ञान एवं जड़ी-बूटी उत्पादन की शिक्षा लेने के लिए भेजा था। इन दहन नामक अरब विद्वान ने संस्कृत से अरबी में अनेकों आयुर्वेद ग्रंथों का अनुवाद करा के उस देश के निवासियों को लाभान्वित किया। प्रधानमंत्री खालिया बरामकी ने सुश्रूत का अनुवाद कराया और उसे ससरों नाम दिया। इसी प्रकार चरक का भी अनुवाद हुआ। आयुर्वेद वेत्ता शानक, रुसा, राय लिखित ग्रंथ भी अरब जनता के लिए उसी काल में उपलब्ध किए गए।

अरब प्रधान मंत्री यहिया वरमकी ने फिर एक दल भारत भेजा जो यहाँ धर्म तथा चिकित्सा संबंधी जानकारियाँ संग्रह करके वहाँ के लोगों के लिए उपलब्ध करें। ऐसे ही शोधकर्ताओं में यरूसलम का एक विद्वान लेखक मुतहमूर भी था, जिसने अपनी पुस्तक 'किताबुल विदअ वतारीख' में तत्कालीन भारत की धार्मिक स्थिति का विस्तारपूर्वक वर्णन लिखा है। उसने इस देश के उपासकों के 'जल भक्तिय' अर्थात् अभिषेक, तर्पण, अर्ध्य, तीर्थ-स्नान आदि के प्रमुखता वाले और 'अग्नि होतरिय' अर्थात् अग्निहोत्री-यज्ञ धर्म के दो भागों में विभक्त किया है। उन दिनों यहाँ ऐसे ही कर्मकांड का प्रधानतया प्रचलन था। अबूजैद सैराफी ने भारत की स्थिति का जैसा उल्लेख किया है उससे प्रतीत होता है कि वह भी यहाँ की स्थिति को आँखों से देखने आया होगा।

अरबी का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है 'बीजासफ' इसमें भगवान बुद्धकी शिक्षाओं का संकलन है। साथ ही बौद्ध-सत्त्व के जन्म, चरित्र, शिक्षा मृत्यु आदि का वर्णन है। उसे इस्लाम धर्मानुयायियों का एक वर्ग अभी भी धर्म ग्रंथ के रूप में मानता है। इसके कुछ अध्याय प्रसिद्ध अरबी धर्मग्रंथ 'इखवानुस सफा' में सम्मिलित किए गए हैं। पुस्तक का नाम बीजासफ वस्तुतः बोधि सत्त्व का ही अपभ्रंश है। पुरानी फारसी में 'घ' के स्थान पर 'ज' का उच्चारण होता भी रहा है। बोधिका बीज हो जाना इस दृष्टि से सामान्य बात है।

अरबी भाषा में अनेकों संस्कृत के महत्वपूर्ण ग्रंथों का अनुवाद हुआ है। महाभारत की कथाओं का अनुवाद अबू सालह बिन शुएव ने किया। इसका ईरानी उत्था मुजम्मिल उत्तवारीख नाम से पेरिस पुस्कालय में सुरक्षित है। इब्न नदीम की किताबुल फेहरिस्त में उल्लेख मिलता है कि शानाक और वाकर नामक भारतीय विद्वानों ने कितने ही संस्कृत के राजनीतिक तथा तंत्र ग्रंथों का अनुवाद अरबी भाषा में किया। अरबी का 'कलेला दमना' ग्रंथ पंच तंत्र का

अनुवाद है, जिसे नौरीं शताब्दी में अब्दुल्लाह विमुकफ्फा ने संपन्न किया था। उसी का पद्यानुवाद महाकवि अव्वान ने किया था और राज्य पुरस्कार पाया था।

चीन के एशिया में चीनी यात्री प्रहुएनसान के अनुसार सन् ६३० में वर्तमान अफगानिस्तान का गांधार प्रदेश भारतीय क्षत्रिय राजाओं के शासन का अंग था। अभी भी काबुल में २२ हिंदू मंदिर हैं। वैरागी, उदासी, नाथ और संन्यासी संप्रदाय वाले साधुओं के मठ वहाँ अभी भी मौजूद हैं। वहाँ की पस्तो भाषा में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। इस देश को महा वैयाकरण पाणिनी की जन्म भूमि माना जाता है। धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी गांधार प्रदेश की ही राजकुमारी थी।

काबुल नदी के तट पर बसा काबुल नगर अफगानिस्तान की अति प्राचीन राजधानी है। उसका पुराना नाम आर्याण है। आर्याण अर्थात् आर्य लोगों का निवास क्षेत्र। यहाँ आर्य-बौद्ध और यवन संस्कृतियों के महत्वपूर्ण भग्नावेष सुरक्षित हैं। काबुल की पुरानी बस्ती पुराने ढंग की बसी है, किंतु नई काबुल रूस और अमेरिका की तरह विशालकाय, गगनचुंबी और साफ-मुथरी बनी हुई है। स्त्रियाँ बहुमूल्य कालीनों के निर्माण में लगी हुई मुहल्ले-मुहल्ले देखी जा सकती हैं।

नादिरशाह का मजार और करगाह झील दर्शकों के आकर्षण का केंद्र हैं। कहते हैं कि नादिरशाह भारत को लूट कर वापस जा रहा था तो यही रास्ते में उसका अंत हो गया था। शहर से २५ किलो मीटर दूर करगाह झील बहुत ही सुंदर है। लोग उसमें नौका विहार करते हैं। तटवर्ती छोटे-छोटे होटलों में बिछी बेंचों पर बैठकर इस झील का मनोहर दृश्य अच्छी तरह देखा जा सकता है। कॉलेज में हिंदी तथा संस्कृत भाषा के अध्ययन का प्रबंध है। उच्च वर्ग की स्त्रियाँ पूरी मेहनती हैं। स्कूली लड़कियाँ ही फिराक पहने दीखती हैं। वयस्क स्त्रियाँ को पर्दे में रहना पड़ता है। हाँ, गरीब वर्ग की

स्त्रियाँ मेहनत-मजदूरी के सिलसिले में मुँह खोले हुए काम करती दिखाई देती पड़ती हैं। भाषा पस्तो है पर उस पर संस्कृत का गहरा प्रभाव है। अच्छी उर्दू जानने वाला यहाँ के लोगों की बातचीत सुनकर उसका मोटा अर्थ तो समझ ही सकता है।

इस्लाम के उद्भव और विस्तार की जन्मभूमि अरब है। अरब देश में इस्लाम के अवतरण से पूर्व बौद्ध धर्म प्रचलित था उसके अनेकों प्रमाण मिलते हैं। हृदीसों के अनुसार हजरत आदम जब धरती पर आए तो उन्होंने पहला चरण पृथ्वी के स्वर्ग भारत में रखा और दूसरा चरण अरब में। लंका उन दिनों भारत का ही अंग था। लंका में आदम पीक नामक स्थान अभी भी हजरत आदम के अवतरण का स्थल माना जाता है और मुसलमान वहाँ भक्तिपूर्वक नमन करने जाते हैं।

अरब देश में एक प्रतिभाशाली 'वंश वरामका' की महत्वपूर्ण हलचलों का वर्णन वहाँ के इतिहास में मिलता है। इस वंश के लोगों को अरब शासन में मंत्री पद तक प्राप्त था। यह वंश अग्निहोत्री था। उन्होंने बलख में 'नौ विहार' एवं अग्नि मंदिर बनवाया था। सन् ६५१ में मुसलमानी आक्रमण में यह मंदिर गिराया गया और उसके अनुयायियों को पकड़ कर दशिमक ले जाया गया, जहाँ वे मुसलमान बन गए।

वरामका वंश के विभिन्न व्यक्तियों ने अब्बासी खलीफा सफूफाह से लेकर पाँचवें खलीफा हारूनुर्रशीद तक अरब की शासन सत्ता अपने हाथ में रखी और वे मंत्री कहलाते थे। सिंहासनारूढ़ दूसरे थे, पर उनकी बुद्धिमत्ता और क्षमता इतनी तीखी थी कि प्रकारांतर में सारा शासन उन्हीं को देखना पड़ता था। अरब इतिहास लेखकों के अनुसार उनका शासन हर दृष्टि से आदर्श था। जितनी सर्वतोमुखी प्रगति उनके जमाने में हुई इतनी इस क्रम में अन्य किसी काल में नहीं देखी गई। यही कारण था कि वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी शासन सत्ता का सूत्र संचालन करने में अपनी विशिष्टता सिद्ध करते हुए मंत्री के पद का उत्तरादायित्व वहन करते रहे।

बुरहान काते की तारीख जियाए वरनी रौजुतुस्सफा पुस्तक के अनुसार वरमका जाति अग्नि पूजक थी। बलख में उन्होंने अग्नि मंदिर बनाया था। उस मंदिर के पुजारी भी वे ही लोग थे। सन् ६५१ ई० में मुसलमानी आक्रमण ने इस मंदिर का सफाया कर दिया और वरामका लोग इस्लाम के अनुयायी बन गए।

नौविहार के बारे इन्हुत फकीह हमदानी ने लिखा है इस विहार के बनाने वाले वरमका लोग थे। वे मूर्ति पूजक थे। मक्का और कुरेश के धर्म मंदिर की प्रतिदंडिता में उन्होंने वैसा ही यह नया मंदिर बनाने का प्रयत्न किया। इसका गुंबद सौ हाथ लंबा और सौ हाथ चौड़ा था। ३६० पुजारियों का निवास स्थान इसमें था। वर्ष में एक दिन ही एक पुजारी पूजा करता था। किताबुल बुलदान के अनुसार वरमक का अर्थ है—पुजारी। यह लोग पुजारियों के वंशज थे। चीन और काबुल के बादशाह इन्हीं का धर्म मानते थे और वे लोग यहाँ पर आकर स्थापित विशाल मूर्तियों के दर्शन अर्चन करते थे। इतिहासकार कजवीनी के अनुसार यह मंदिर उस काल के देवालयों में सबसे बड़ा था। रेशमी वस्त्रों और रत्न जटित आभूषणों में मूर्तियों की सज्जा होती थी। फारस वाले और तुर्क लोग यहाँ श्रद्धापूर्वक दर्शन करने आते थे और भेंट दक्षिणा चढ़ाते थे।

प्रो० ब्राउन ने अपनी पुस्तक 'लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ पर्शिया' में इस देवालय को ऐसे अग्नि मंदिर के रूप में अंकित किया है जहाँ अग्निहोत्र की मान्यता थी। जखाऊ की किताबुल हिंद में इसे बौद्ध विहार बताया गया है। 'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम' में भी बुद्ध विहार होने की चर्चा है।

इतिहासकार मसऊद ने नौ विहार के ऊँचे शिखर पर हरे रेशमी झंडे लहराते रहने का उल्लेख किया है। इन्हुत फकीह ने इस विशाल मंदिर में स्थापित मूर्तियों का वर्णन किया है और लिखा है उसमें ३६० पुजारियों के रहने के अलग-अलग कक्ष थे। चीन, काबुल और भारत के राजा भी इस मंदिर के पुजारियों वाला धर्म

वरमक (ब्रह्म) धर्म मानते थे और वे यहाँ पूजा करने तथा मस्तक झुकाने आते थे। इतिहास लेखक याकूब ने उमर बिन अजाक किरमानी का हवाला देते हुए इस 'नौ विहार' का लगभग ऐसा ही वर्णन किया है और लिखा है कि इस मूर्ति पूजक धर्म के अनुयायी बरामका लोगों का बलख तथा देश के दूसरे स्थानों पर बड़ा सम्मान था। एक-दूसरे इतिहास लेखक कजवीनी ने अपने वर्णन में विहार को उस देश का सबसे बड़ा 'मंदिर' लिखा है और उसके भीतर खड़ी सुंदर मूर्तियों की चर्चा की है।

अरब इतिहासकारों ने इस 'नौ विहार' का जैसा वर्णन किया है उसके विवरणों को देखते हुए वह स्पष्टतः ऐसा बुद्ध विहार प्रतीत होता है, जिस पर पुराने बौद्धिक भारतीय धर्म की छाप थी और उसमें अग्निहोत्र की भी व्यवस्था थी। डब्ल्यू वर्थाल्ड ने अपने 'इस्लाम का विश्वकोष' ग्रंथ में इसे बुद्ध विहार ही माना है। इसके प्रमुख द्वार पर भगवान बुद्ध के उपदेश खुदे थे और बुद्धि संतोष और समृद्धि की उपयोगिता बताई गई थी।

न केवल बलख वरन् पूरे खुरासान क्षेत्र में बुद्ध धर्म का प्रसार-प्रभाव रहता था, इसकी चर्चा करते हुए इतिहासकार इन्दीन ने लिखा है कि खुरासान क्षेत्र में इस्लाम आने से पूर्व बुद्ध धर्म का ही आधिपत्य था।

अरबी विश्वकोष 'मसालिकुल अवसार फी ममालिकिल अक्सर' के प्रथम खंड में बलख के नौ विहार का वर्णन है और लिखा है कि उसे 'मतोशहर' नाम के एक भारतीय राजा ने बनवाया था। इसमें ग्रह-नक्षत्रों की पूजा भी होती थी।

इस्लाम स्वीकार कर लेने के बाद भी वरामका वंश के लोगों का भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम शताब्दियों तक बना रहा, उन्होंने अनेक भारतीय ग्रंथों का अनुवाद अरबी भाषा में कराया और घरेलू जीवन में हिंदू धर्म की प्रथा परंपराएँ अपनाए रखीं। अब्बासी खलीफाओं के समय अरब शासन में कई बरामका मंत्री

थे। उन्होंने खलीफा को रजामंद करके भारत के कितने ही विद्वान पंडित बुलाए और बृहस्पति सिद्धांत आदि कितने संस्कृत ग्रंथों का अरबी में अनुवाद कराया। जब हाँरु रशीद बीमार पड़े और अरब के चिकित्सक इलाज में असफल रहे तो भारत से मनकाना वैद्य बुलाए गए और उनके प्राण बचाए। इसी प्रकार खलीफा के एक भाई के असाध्य रोग को अच्छा करने के लिए भारतीय चिकित्सक को प्रचुर मार्ग व्यय खर्च करके बुलाया गया था और उसने उनके प्राण बचाए थे।

अरब से कई यात्री भारत की धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का पता लगाने के लिए आते रहे हैं। उन्होंने यहाँ रहकर जो सीखा, जाना उसका विस्तारपूर्वक वर्णन अपने ग्रंथों में किया है। ताकि उस देश के निवासी स्थिति का समुचित लाभ उठा सकें।

इन यात्री लेखकों में से कुछ के नाम और ग्रंथ इस प्रकार हैं—
(१) सुलेमान सौदागर सं० २३७ हि०, इसकी पुस्तक है—“सिल सिल तुत्तवारीखा।”

(२) इन्हे खुर्दावजा सन् २५० हि०, पुस्तक किताबुल मसालिक वल ममालिका। (३) अबूजैद हसन सैराफी सन् ६४ हि०, पुस्तक—.....। (४) अबूदल्फ मुसदूर बिन मुहलहिल यं वूई, सन् ३३१ हि में। इसकी पुस्तक के कुछ पृष्ठ ही मिलते हैं जो जर्मनी में लैटिन अनुवाद समेत सन् १८४५ ई० में छपे हैं। इसके उद्धरण कितने ही अरब इतिहासकारों ने अपनी पुस्तकों में दिए हैं। (५) बुजुर्ग विन शहरयार सन् ३०० हिजरी, पुस्तक ‘अजायबुल हिंद’ (६) मसरिदी-अबुल हसन अली सन् ३०३ हिजरी, पुस्तके—‘मुरुजुज महहव-मआदनुल जोहरी’ उल तरवीह वल अशराफा। (७) इस्तखरी-अबू इसहाक इब्राहीम बिन मुहम्मद। पुस्तके—‘किताबुल अकालीम’ किताबुल मसातिकुल, मसातिकुल ममालिक’ (८) इन हौकल (सन् ३३१ हि०) इसकी पुस्तक के कुछ पृष्ठ ही इतिहासकार इलियट को अवधि के शाही पुस्तकालय में मिले थे। (९) बुशारी

मुकसदी-शेमसुद्दीन मुहम्मद विन अहमद वुशरी सन् ३७५ हिजरी पुस्तक-'अहसनूत तफासीय फी मारफतिल अकालीय'। (१०) अलबेर्नी सन् ४०० हि०, पुस्तक 'किताबुल हिंद' (११) इन बतूता सन् ७७९ हि० पुस्तक 'अजायबुल आस्फारा'

यह वे लोग हैं जिन्होंने भारत आकर आँखों देखा हाल लिखा है। जो यहाँ स्वयं नहीं आए पर जिन्होंने प्रामाणिक सूत्रों से तत्कालीन भारत की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथ लिखे हैं, उनकी संख्या भी कम नहीं है। विलाजुरी (२७५ हि०) की 'फुतूहल वुल्दान'। इन नदीम बगदादी (३७० हि०) की 'किताबुल फेहरिस्ता' सूफी दामशकी (७२८ हि०) की 'अजायबुल वई वल बहरा। जकरिया कजवीनी (६८२ हि०) की 'असारूल विलादा' अबुल फिदा (७३२ हि०) की 'तकवीमुल बुरदान'। याकूत (६२७ हि०) की 'मुअजमुल बुल्दान'। नवीरी (७३३ हि०) की 'नहायतुल रव फी अफनूगूल अदबा। माशाहबुद्दीन उमरी (७४७ हि०) की 'मसालिकुल अव्सार पुस्तकें भी कम महत्व की नहीं हैं। यह सभी लेखक अरब, ईराक, ईरान, सिसली, मिश्र आदि अरब देशों के हैं और उनने अपने समय में जो कुछ लिखा है वह उनकी जानकारी के हिसाब से बिना अत्युक्ति का ही माना जा सकता है। उन उल्लेखों में भारत की तत्कालीन परंपराओं की सराहना की गई है।

इन ग्रंथों से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि बौद्ध धर्म और ब्राह्मण धर्म के लोग पारस्परिक कलह में किस प्रकार एक-दूसरे को नीचा दिखाने में निरत थे और एक-दूसरे के प्रति किस तरह दुरभिसंधियाँ रच रहे थे।

इसके अतिरिक्त उपरोक्त ग्रंथ प्राचीन भारत की ऋषिद्धि एवं गरिमा पर भी प्रकाश डालते हैं और बताते हैं कि जनसाधारण में धर्मनिष्ठा और नैतिकता के आदर्श बहुत ऊँचे थे।

अरब देशों से जो शिक्षार्थी और अर्थार्थी विद्याध्यायन अथवा व्यवसाय के लिए वहाँ पहुँचते थे, उन्हें समुचित आतिथ्य एवं

सहकार प्रदान किया जाता था। अब देशों के साथ चिरकाल से भारत के बड़े धनिष्ठ और सौहार्दपूर्ण संबंध चले आ रहे थे। कटुता तो आक्रमण और आधिपत्य की चीज के साथ पनपी। धर्म यहाँ ऐच्छिक विषय था कटुता तो बल प्रयोग ने उत्पन्न की।

मैसेपोटामिया किसी जमाने में भारतीय सभ्यता का केंद्र रहा है। उस प्रदेश में भारतवासी ही जाकर बसे थे। इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है कि यूफ्रेटीज और टाइग्रिस नदियों की सुविस्तृत घाटी में 'सुमेर' नामक एक सुसंस्कृत जाति बसी हुई थी। वे लोग भारत से ईरान होते हुए इस क्षेत्र में पहुँचे थे और 'इरीदु' बंदरगाह के निकट अपनी बस्तियाँ तथा शासन व्यवस्था कायम की। पहला राजा था—'उक्कुसि' यह इच्छ्वाकु शब्द का अपभ्रंश है।

महाभारत में भारत के एक प्रांत का नाम सुराष्ट्र और उसके निवासियों को 'सुवर्ण' बताया गया है। यह 'सुवर्ण' सुमेर थे। सुमेर का अर्थ है—अच्छी जाति। यही अर्थ सुवर्ण का भी होता है। उन दिनों भयंकर बाढ़े आई, भारी वर्षा हुई जिसमें सुमेर सभ्यता के महत्वपूर्ण दुर्ग धराशायी हो गए। अब 'किश' और 'उर' क्षेत्रों की खुदाई में ऐसे प्रमाण मिले हैं जिनसे उस क्षेत्र में बसी हुई सुमेर जाति की समुन्नत स्थिति का पता चलता है और प्रतीत होता है कि वे भारतीय धर्मानुयायी थे। सूर्य पूजा करते थे॥ निष्पुर में विशालकाय सूर्य मंदिर था। विष्णु वाहन गरुड़ की भी प्रतिमाएँ उस क्षेत्र में मिली हैं। इच्छ्वाकु राजा की मुद्राएँ भी उसी खुदाई में पाई गई हैं। 'बोनजकोई' नामक स्थान पर खुदी वरूण देवता की मूर्ति मिली है। रथ ठीक उसी प्रकार के पाए गए हैं जैसे कि भारत में चलते थे। मृतकों के दाह-संस्कार के भी प्रमाण मिले हैं।

'बोगज कोई' की खुदाई में पुरातत्व अन्वेषी जर्मन संशोधक ह्यूगो विंकलर का एक शिलालेख मिला है जिससे प्रतीत होता है कि मैसेपोटामिया के स्थानीय भारतीय धर्मानुयायी मितानी वंशी राजा

दशरथ ने भारतीय देवताओं को साक्षी देकर एक मैत्री संधि की। यह लेख इसा से १३६० वर्ष पूर्व का है। इसमें मित्र, वरुण, इंद्र और सत्य देवताओं की वंशावलि भी मिली है, जिसमें यश दत्त, सुवर दत्त, वीर दत्त, आरत्तम, सुर्तन आदि भारत वंशी राजाओं के नाम हैं।

इतिहास वेत्ता हडन-वान लुशन-चाइल्ड के अनुसार यह लोग नारडिक वंश के आर्य लोग थे। वे काकेशियस पर्वत पार करके भारत से यहाँ आए थे और मितानी राज्य स्थापित किया था। मैसोपोटामिया की खुदाई में प्राप्त अवशेष और मोहन जोड़ो की सिंधु सभ्यता सामग्री में भारी साम्य है। दोनों की समानता देखते ही बनती है। मितानी भाषा में संस्कृत और प्राकृतिक भाषा के शब्दों की भरमार है।

एशिया माइनर के इसी क्षेत्र में एक और पुरातन वंश का विवरण मिलता है जिसे 'खती' कहा गया है। यह खत्री या क्षत्री शब्द का अपभ्रंश है। इन लोगों की प्रथम राजधानी 'तलहलफ' थी। इन क्षत्रिय राजाओं के जो सिक्के मिले हैं उन पर सिंहारूढ़ दुर्गा और वृषभारूढ़ शिव की आकृति बनी हैं। इसी खुदाई में शिव-पार्वती की बालक स्कंद समेत प्रतिमा मिली है, 'इकोनियम' में प्राप्त शिलालेखों से उस क्षेत्र में वर्ण व्यवस्था प्रचलन तथा भारतीय भाषा का प्रसार सिद्ध होता है।

ईसा के १६४६ वर्ष पूर्व से लेकर ११८० वर्ष पूर्व तक ६०० वर्षों से एशिया माइनर क्षेत्र में खत्री राजाओं का राज्य रहा है। मीडिया और वेविलोन के बीच जगरस प्रदेश में इन्हीं लोगों का शासन था। इन्हें 'कस्तर' कहा जाता था। जो क्षत्री शब्द का ही अपभ्रंश है। असीरिया में मिले एक लेख के अनुसार एक क्षत्री राजा अंजु या अंशु का उल्लेख है। ईरान के यह क्षेत्र समीप पड़ता है। इसलिए वहाँ की भाषा और सभ्यता का भी इन क्षत्र या क्षत्री लोगों पर प्रभाव था, किंतु बहुलता फिर भी भारतीयता की ही थी। वे लोग भारत से ही गए थे।

सन् १६० ईस्वी में मैसोपोटामिया 'ईराक' के वसरा नगर में इस्लाम धर्मानुयायियों में से एक संप्रदाय उभरा 'अखवानुस्सफा' जिसका अर्थ होता है-'पवित्र संप्रदाय'। इसमें भारतीय दर्शन, आचार एवं उपनिषदों के तत्त्व ज्ञान का आश्यर्चजनक समावेश था। उसमें हिंदुओं जैसा आश्रमों का विधान था। पचास वर्ष की आयु पूरी हो जाने पर इस संप्रदाय के लोग साधु जीवन में प्रवेश करते थे। उपासनारत रहते थे और लोक शिक्षण के लिए परिभ्रमण करते थे। इस संप्रदाय का साहित्य ५० खंडों में विभक्त था। उसमें भारतीय धर्म विशेष रूप से और साधारणतया अन्य धर्मों में से भी जो कुछ मानवोपयोगी पाया गया उस सब का संकलन किया गया था। इस साहित्य को 'रसायल अखवानुस्सफा' अर्थात् सदाशय मान्यता का साहित्य कहते थे। इसके संकलन कर्त्ताओं में जजानी, मुकद्दसी, अलएरोफी, इन्वरिफस आदि धुरंधर विद्वान् थे।

इस संप्रदाय में इस्लाम तथा अन्य धर्मों के ऋषियों तथा अवतारों का आदर करने तथा उनकी शिक्षाएँ ग्रहण करने का विधान था। मुहम्मद, इब्राहीम, ईसा, बुद्ध एवं ऋषियों के लिए उनने समुचित सम्मान प्रकट करने की मान्यता को प्रश्रय दिया था और ऐसे सर्वधर्म समन्वयी महापुरुष के अवतरण की प्रतीक्षा थी जो ईरानियों जैसा कुलीन, अरबों जैसा श्रद्धालु, ईराकियों जैसा ज्ञानी, यहूदियों जैसा गंभीर, ईसाइयों जैसा प्रेमी, सीरिया वालों जैसा सरल, यूनानियों जैसा दार्शनिक, हिंदुओं जैसा तत्त्वदर्शी और सूफियों जैसा संत हो। उस धर्म का प्रयोजन संसार के समस्त धर्मों और वर्गों के ब्रेष्ट तत्त्वों का संग्रह करके एक सार ग्रही-सत्यान्वेषी सार्वभौम पवित्र धर्म की स्थापना था।

इतिहास के विद्यार्थी फिनीशियन लोगों की जीवट, पुरुषार्थ परायणता और संस्कृति से भलीभाँति परिचित हैं। किसी समय यह लोग संसार के कुशलतम और सफलतम व्यापारी समझे जाते थे। फिनीशियन द्वीप समूह, सिडन, टायर आदि इन्हीं लोगों की बस्तियाँ

थीं। आक्रमणकारी इन्हें बार-बार लूटते रहे किंतु उन्होंने फिर से उसकी क्षतिपूर्ति कर ली और यथावत बने रहे। इन्हें रोमन इतिहास में प्यूनिक कहा गया है। यह जाति वस्तुतः भारत की 'पणि' वंशीय लोगों की ही विदेश जाने वाली एक शाखा थी। पणि का ही अपभ्रंश 'प्यूनिक' है। निस्कृत में 'पणिवणिभवित'-पणि को वणिक कहा गया है। यह लोग व्यवसाय प्रयोजन के लिए भारत से ईरान गए थे। वहाँ असुरक्षा देखकर वे लोग सीरिया के समुद्र तट पर जा बसे और उस क्षेत्र का नाम 'फिनीशिया' रखा। इन्होंने उत्तरी अफ्रीका और भूमध्य सागर के द्वीप बसाए। कार्थेज भी उन्होंने बसाया। छः लाख जनसंख्या वाले कार्थेज का व्यवसाय अभी दक्षिण योरोप के अनेक देशों को प्रभावित करता है।

पणिवंशी फिनीशीयनों की प्राचीन 'गाथा' भारतीय सभ्यता की ही अनुकृति है। उनका धर्म ग्रंथ 'बलूस्पा' ऋग्वेद का ही अनुवाद है। अभी भी उनकी मान्यताएँ और प्रथाएँ बहुत कुछ भारतीय आदर्शों के अधिक समीप हैं। किसी समय पणिवंश के लोगों की सहायता से पश्चिमी एशिया, ग्रीस, गॉल, ब्रिटेन, नार्वे, अरब तथा सैमेटिक लोगों में भारतीय धर्म और संस्कृति का विस्तार संभव होता था। भारत से धर्म प्रचारकों को बुलाकर वे उन्हें उस क्षेत्र में दूर-दूर तक भेजने के लिए सभी आवश्यक साधन जुटाते थे।

सीरिया पर ई० पू० १५०० में किसानी जाति के राजा राज्य करते थे, वे मूर्तिपूजक थे। इस क्षेत्र में ऐसे शिलालेख और संधि पत्र मिले हैं जिनमें मित्र, वरुण, इंद्र आदि की आकृतियाँ खुदी हैं और संस्कृत भाषा में मित्रतापूर्वक रहने की प्रतिज्ञा है।

पैलेस्टाइन से सातवीं सदी में ऐसनीज नामक एक ऐसे संप्रदाय का उल्लेख मिलता है, जिसके रीति-रिवाज और विचार पूर्णतया हिंदू धर्म से मिलते-जुलते थे। उस संप्रदाय के संत भारतीय ऋषियों की तरह उपासनारत रहते थे और धर्म प्रचार करते थे।

कुवैत के छोटेसे इलाके में तेल का इतना बड़ा भंडार है जितना पूरे अमेरिका में भी नहीं है। सन् १८९९ में जिस संधि के आधार पर कुवैत का अलग अस्तित्व बना, उसको इराक ने बहुत समय तक माना ही नहीं। ईराक बार-बार यही कहता रहा कि कुवैत हमारा एक अविच्छिन्न प्रांत है। उसने राष्ट्र संघ में भी इस प्रथकता के विरुद्ध शिकायत की थी और धमकी दी थी कि वह सेना भेजकर पृथकता को दूर करेगा। इस पर ब्रिटेन और अमेरिका ने अपने लड़ाकू जहाज कुवैत की सुरक्षा के लिए भेज दिए। उनका सामना कर सकने की क्षमता न होने के कारण ईराक को अपना दावा छोड़ना पड़ा।

कुवैत के शेख की आमदनी तेल से १५ हजार पौंड दैनिक है। उनके पास बैंकों में जमा धन संसार के किसी भी धनी व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक है।



विद्वेष के दुष्परिणाम

यह मानना सही नहीं है कि मुसलमान आक्रमणकारियों ने अपने बल पौरुष से इस देश पर विजय पाई और अधिकार जमाया। सच बात यह है कि हिंदुओं की फूट ने ही उन्हें आमंत्रित किया और प्रकट एवं अप्रकट सहयोग देकर उन्हें विजयी बनाया। नित नए बरसाती मेढ़कों की तरह उगने वाले संप्रदाय सांस्कृतिक एकता नष्ट कर रहे थे। भावनात्मक विकृतियों ने नैतिकता, सामाजिकता और राष्ट्रीयता को एक प्रकार से छिन्न-भिन्न कर दिया था। ऐसी दशा में लोगों को अपने विराने दीखने लगे और विराने अपने। गृह-कलह से उत्पन्न विद्वेष ने आक्रमणकारियों की शरण ली उन्हें आमंत्रित किया और भरपूर सहयोग दिया। इसी बल-बूते पर उन्हें आक्रमण का साहस हुआ। जो सफलता सहज ही मिल सकती हो उसका लाभ कौन छोड़ेगा? दूसरों के कंधे पर रखकर बंदूक चलाने वाले का लाभ ही लाभ है। इसी आकर्षण ने उन आक्रमणकारियों को पैर जमाने के लिए ललचाया जो मात्र लूट-खसोट करके भाग जाने के अतिरिक्त और कुछ कभी सोचते भी न थे। अंधकार युग की भारतीय पराधीनता के लिए किसी आक्रमणकारी को उतना श्रेय नहीं, जितना इस देश में फैली फूट और तज्जनित आत्मघाती नीति को।

जयचंद्र का नाम बदनाम है कि उसने पृथ्वीराज को नीचा दिखाने के लिए मुसलमान आक्रमणकारियों को आमंत्रित किया था। अंग्रेजों के जमाने में मीरजाफर का नाम कुछ्यात है। पर वास्तविकता यह है कि उन दिनों इस स्तर की दुरभिसंधि बरतने

वाले अनेक लोग थे, भले ही उनका नाम प्रकाश में न आया हो। इन्हीं के प्रयासों ने इस देश को आक्रांताओं के पैरों तले चिरकाल तक कुचले जाने की भूमिका प्रस्तुत की।

‘तोहफतुल किराम’ नामक अरब इतिहास का उद्धरण है कि सिंध पर दल्लूराय नामक हिंदू राजा का राज्य था। इसने अपने छोटे भाई इमरान को सताया। वह बगदाद के खलीफा के पास पहुँचा। खलीफा ने उसके साथ अरब सेना भेज दी। सेना नायक सैयद को अपनी लड़की ब्याह कर दल्लूराय अपनी जान बचा सका।

अरबी भाषा के सबसे प्रामाणिक ग्रंथ ‘चचनामा’ में उल्लेख है—सिंध के कुछ पुरोहित मुहम्मद कासिम के पास गए और उनसे कहा कि हमारी जाति सबसे ऊँची है, हमें ऊँचा मान मिले। कासिम ने उनकी बात मान ली। उन्हें ऊँचे पद दिए और संपन्नता दी। पुरोहितों ने इसका बहुत धन्यवाद दिया और गाँव-गाँव धूमकर शासकों के गुण गाए तथा उनकी भरपूर प्रशंसा की।

‘मुतदहिर मुकद्दसी’ ने हिजरी सन् ३३५ में हिंदुओं को दो प्रमुख धर्मों में बाँटा है। (१) ब्राह्मण धर्म (२) बौद्ध धर्म। दोनों परस्पर विरोधी थे। उनमें से ब्राह्मण धर्म वाले अरब लोगों के अधिक घनिष्ठ थे।

‘कामिल इब्न अधीर’ के अनुसार सन् ३४७ हिजरी के आस-पास सिंध में मुसलमानों का पास पलट गया और उन्हें भागकर जान बचाने की आवश्यकता पड़ी। तब एक हिंदू राजा ने उन्हें अपने यहाँ बसाया और स्वागत किया और वे बहुत सुखपूर्वक रहने लगे।

‘कामिल इब्न और’ के अनुसार भारत पर आक्रमण करने वाले सुलतान महमूद की सेना में बहुत से हिंदू भी मिले हुए थे।

लगता है कि उस काल में बौद्ध धर्म का वर्चस्व ब्राह्मण धर्मानुयायीयों को सहन नहीं हो रहा था। वे स्वयं तो बौद्धों को नीचा दिखाने में सफल न हो सके, पर उन्होंने सरल तरकीब ढूँढ़ निकाली

कि समीपवर्ती विधर्मियों को आक्रमण करने के लिए तैयार किया जाए। इसकी पृष्ठभूमि इस प्रकार बनाई गई कि बौद्ध धर्म इस्लाम के अधिक विपरीत है, ब्राह्मणी धर्म इतना नहीं। बौद्ध धर्म को मिटाने के लिए दोनों मिलकर प्रयत्न करें तो इसमें दोनों के समान शत्रुओं को निरस्त करने का अवसर मिलेगा। इस दुरभिसंधि ने आक्रमणों के लिए विस्तृत पृष्ठभूमि बनाई।

पर इतिहासकार 'बिलाजुरी' के अनुसार उन दिनों बौद्धों और ब्राह्मणों में भारी लड़ाई चल रही थी। ब्राह्मण तगड़े पड़ रहे थे। बौद्धों ने अपने को हारता देखा तो उन्होंने मुसलमानों की सहायता माँगी। मुहम्मद बिन कासिम की सेना जब नेरू पहुँची तो उसे मालूम पड़ा कि बौद्धों ने गुप्त रूप से अपने दूत ईराक भेजे हैं और वहाँ से अभयदान प्राप्त किया है। नेरू में कासिम का अच्छा स्वागत हुआ। उसे रसद और दूसरी सुविधाएँ मिलीं। इसके बाद इस्लामी सेना आगे बढ़ी। इसमें बौद्धों का सहयोग मिला। उन्होंने राजा विजय राज को छोड़कर मुसलमान सेना का साथ देना उचित समझा।

इतिहासकार इलियट ने उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए स्पष्ट किया है कि 'उन दिनों बौद्धों और ब्राह्मणों में भारी कलह मचा हुआ था, यद्यपि मतभेद दार्शनिक स्तर के और छोटे-मोटे थे तो भी उनका द्वेष भाव बहुत बढ़ गया था और एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए हर तरीका अपनाने के लिए उतारू थे। यही निष्कर्ष अरबी इतिहास 'मिनहाजुल मसालिक' से भी निकलता है।

इन नदीम की अल फेहरिस्त के अनुसार अरबी भाषा में बौद्धों के लिए 'समनिया' शब्द का प्रयोग होता है। यह नास्तिक अथवा शैतान जैसा है। इस्लाम के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करना सबसे बड़ा पाप है। बौद्ध लोग ईश्वर को नहीं मानते। इतना ही नहीं उनकी अन्य कई दार्शनिक मान्यताएँ भी इस्लाम के प्रतिकूल पड़ती हैं। संसार में सत्य और असत्य का मिलाजुला

होना, संसार को दुःख रूप मानना, पाप-पुण्यों का परिणाम, बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानना, मूर्ति पूजा आदि ऐसे प्रतिपादन हैं जो इस्लाम से मेल नहीं खाते। अस्तु, इन्हें अधिक घृणास्पद समझा गया। यों ये सिद्धांत बौद्ध धर्म में प्राचीन हिंदू धर्म से ही गए थे। पर उस समय के प्रचलन के अनुसार विरोधी पक्ष ने इन्हें बौद्धों के ही ठहराया।

‘चचनामा’ में एक रहस्य का उदघाटन किया गया है—सिंध में एक ‘काका’ नामक कूटनीतिज्ञ साधु था। राजा और बड़े आदमी उसे चमत्कारी समझते थे और उससे सलाह लेते थे। मुसलमानों के आक्रमणों का मुकाबला कैसे किया जाए इस बात पर बड़े लोग उससे सलाह लेने गए, तो उसने कहा मैंने पंडितों, योगियों और देवताओं से सलाह करके यह जान लिया है कि इस देश को मुसलमान अवश्य जीत लेंगे। मेरा विश्वास है कि ऐसा ही होकर रहेगा।

इस कथन से उन लोगों में भारी निराशा छा गई और लड़ने का इरादा छोड़कर अपनी जान बचाने की बात सोचने लगे। मुहम्मद विन कासिम ने उसे भारी जागीर एवं सम्मान प्रदान किया। ‘काका’ के प्रभाव में आकर प्रभावशाली लोगों ने कासिम की आधीनता स्वीकार कर ली।

ब्राह्मण धर्मानुयायी राजा और महंत मुसलमानों को हर प्रकार की सहायता और प्रोत्साहन दे रहे थे और उन्हें अपने यहाँ अनेकानेक सुविधाएँ देकर बसा रहे थे। शारीरिक दृष्टि से अधिक बलिष्ठ और स्वभाव की दृष्टि से अधिक लड़ाकू होने के कारण इस प्रश्रय में उन्हें यह लाभ प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था कि उनकी सहायता से विपक्षियों को तरह-तरह से नीचा दिखाया जा सकता है।

बसे हुए अरब लोग अपने प्रभाव से अछूत तथा दूसरे पिछड़े लोगों को मुसलमान बना लेते थे। इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं होती थी वरन् इसे प्रोत्साहन दिया जाता था ताकि उन्हें अपनी मित्रता का अधिक गहरा प्रमाण दिया जा सके।

इलियट ने अपने इतिहास ग्रंथ में तत्कालीन नौ मुसलमानों की स्थिति का वर्णन अमीर खुसरो का एक उदाहरण देते हुए लिखा है—यह लोग आधे हिंदू आधे मुसलमान थे। इन्हें अपने इस्लाम धर्म का ज्ञान नहीं था।

इन बतूता ने कालीकट के राजा की प्रशंसा करते हुए लिखा है—एक बार एक मुसलमान व्यापारी की तलवार दीवान के भतीजे ने छीन ली। व्यापारी ने राजा से शिकायत की तो हुक्म हुआ कि दीवान के भतीजे के दो टुकड़े उसी तलवार से कर दिए जाएँ।

उपरोक्त यात्री के अनुसार उन दिनों मैसूर राज्य पर वल्लाल देव राजा राज करता था। उसने लिखा है इस राजा की विशाल सेना में एक चौथाई मुसलमान थे। बीजा नगर के हिंदू राज्य की सेना में दो हजार मुसलमान थे। राजा मुसलमानों का बहुत आदर करता था। उसने उनके लिए मस्जिद बनवाई थी।

अरब यात्री सुलेमान का यात्रा विवरण ‘खजायनुल फुतूह’ में छपा है। उसने लिखा है—‘वल्लभी राजा और उसकी प्रजा मुसलमानों से बहुत प्रेम करते हैं। किंतु गुर्जर लोग अरबों के शत्रु हैं।’

एक अन्य अरब यात्री मसऊदी भारत आया, गुजरात घूमा और उसने वल्लभी (वल्हारा) राजाओं के बारे में लिखा है कि उनके राज्य में मुसलमानों को इतना आदर होता था जितना सिंध अथवा भारत के किसी अन्य राजा के राज्य में नहीं होता। यहाँ इस्लाम का अच्छा आदर एवं संरक्षण है।

‘अजायबुल हिंद’ में शहरयार नामक नाविक को साक्षी देते हुए लिखा है—‘भारत में कई प्रकार के पुजारी एवं सन्यासी हैं। इनमें से कुछ मुसलमानों से बहुत प्रेम करते हैं और उनसे घनिष्ठता बरतते हैं।’

